

ओ३म् ॥

५१७३१८

प्रियं मां कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शुद्र उतार्य ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय[मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।

प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शुद्र और आर्य मैं ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

प्रथमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण-निरुक्तादि प्रमाण समन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम धीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित वडोदेपुरीगत आवाणमास-
दक्षिणापरीक्षायां ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु

लब्धदक्षिणेन

श्री परिडित क्षेमकरणादास त्रिवेदिना
निर्मितम् प्रकाशितञ्च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sūdra and to Āryan man.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः परिडित काशीनाथ चाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे श्रींकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारो ग्रन्थकारेण स्वाधीन एव रक्षितः ।

प्रथमावृत्तौ,	} संवत् १९६६ वि० ।	{ मूल्यम् १॥
१००० पुस्तकानि ।		
	सन् १९१२ ई० ।	

शुभ समाचार ॥

निःसन्देह अब वह समय है कि सब खी पुरुष घर घर में वेदों का अर्थ जानें और धर्मज्ञ होकर पुरुषार्थी बनें। भारतीय और अन्य देशों के विद्वानों में वेदों का अर्थ खोजने और प्रकाशित करने में बड़ा परिश्रम उठा रहे हैं। हमारा विचार है कि वेदों का यथाशक्ति सरल, स्पष्ट, प्रामाणिक, और अन्य मूल्य भाष्य प्रस्तुत हो, जिस से सब लोग स्वाध्याय [वेदों के अर्थ समझने और विचारने] में लाभ उठावें। परमेश्वर के अनुग्रह से यह मनोरथ सिद्ध होना लगा है, अर्थात् निम्न लिखित वैदिक ग्रन्थ उपस्थित हैं, और होते जाते हैं:

अथर्ववेद भाष्य ।

१— जिस भाष्य की इतने दिनों से प्रतीक्षा हो रही थी, जिस चौथे ब्रह्म वेद के स्वाध्याय करने के लिये आप को बड़ी लालसा लगी हुयी थी, जिस के लिये बहुत से महाशयों के नामों से ग्राहक सूची पुरीत है, उस वेद का प्रथम काण्ड अब सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की परम कृपा से सरल भाषा में सान्त्वय पदार्थ, भावार्थ, टिप्पणी, अनुरूप मन्त्र, श्लोक आदि, और संस्कृत में व्याकरण, निरुक्त आदि सहित आप के सामने विद्यमान है। इस के साथ अथर्ववेद भूमिका भी है जिस में सायण भाष्य और अथर्ववेद विस्तार शास्त्र उपयोगी विषयों का वर्णन है। बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ २०२ मूल्य १।)

२—अथर्ववेद भाष्य, काण्ड २—इसी प्रकार बहुत शीघ्र छपकर प्रकाशित होगा। मूल्य प्रथम काण्ड के लग भग होगा।

३—अथर्ववेद भाष्य संपूर्ण—अथर्ववेद में २० काण्ड हैं, कोई छोटा है कोई बड़ा। भाष्य पूरे एक एक काण्ड का छपता है जिस से उस काण्ड का पूरा विषय जान पड़े। प्रत्येक काण्ड का मूल्य उसके विस्तार के अनुक्रम होगा। जो महाशय सनातन वेदविद्या के प्रेमी अपने नाम पूरे भाष्य के लिये ग्रन्थ छपने से पूर्व ग्राहकसूची में लिखावेंगे, उनको नियत मूल्य में से २० सैकड़ा छूट देकर पुस्तक छपने पर बी० पी० द्वारा भेजी जाया करेगी।

क्षेमकरणदास त्रिवेदी ।

५२ लूकरगंज, प्रयाग (ALLAHABAD.)

ओ३म् ॥

प्रियं मां कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।

प्रियं सर्वस्य पश्यन्त उत शुद्र उतार्य ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० २२ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज, समाज में
प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शुद्र और आर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

प्रथमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण-निरुक्तादि प्रमाण समन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुरुमहिम धीरवीर चिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बडोदेपुरीगत श्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायां ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री परिडत क्षेमकरणादास त्रिवेदिना
निर्मितम् प्रकाशितञ्च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sūdra and to Āryan man.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः परिडत काशीनाथ याज्ञपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारो ग्रन्थकारेण स्नाधीन एव रक्षितः ।

प्रथमावृत्ती,	}	संवत् १९६६ वि० ।	}	मूल्यम् १।
१००० पुस्तकानि ।		सन् १९१२ ई० ।		

विषय सूची ।

विषय ।	पृष्ठ ।	विषय ।	पृष्ठ ।
अथर्ववेद भाष्य भूमिका ।		अपना भाष्य ।	१०
१-ईश्वर स्तुति प्रार्थना ।	१	४-ऋषि, देवता, छन्द ।	११
२-वेद ।	२	१०-निवेदन ।	११
३-अथर्ववेद ।	६	११-सूक्त, मन्त्र, चक्र ।	१२
४-अथर्ववेद विस्तार ।	७	सूक्त विवरण, काण्ड ?	१७
५-सूक्त भेद ।	६	अथर्ववेद, काण्ड ? के मन्त्र अन्य	
६-अनुवाक ।	६	वेदों में ।	१८
७-सायणभाष्य असंपूर्ण है ।	६	अथर्ववेदभाष्य काण्ड ? ।	१-१७८
८-अथर्ववेद पुस्तकों और			

सङ्केत सूची ।

सङ्केत	सङ्केत विषय	सङ्केत	सङ्केत विषय
अ०, अथर्व० = अथर्ववेद, काण्ड, सूक्त, मन्त्र ।		पु० = पुंल्लिङ्ग ।	
अथ्य० = अथ्यय ।		पृथो० = पृथोदरादि ।	
आ० प० = आत्मने पदी ।		य०, यजुः = यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र ।	
उ० = उणादिकोष, पाद, सूत्र (स्वामी दयानन्द सरस्वती संशोधित) ।		श० क० दु० = शब्दकल्पद्रुमकोष, राजा रामकांतदेव बहादुर विरचित ।	
ऋ० = ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र ।		श० स्तो० म० नि० = शब्दस्तोममहानिधि कोष, श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य सङ्कलित ।	
क्रि० = क्रिया ।		सा० वे० = सामवेद, पूर्वार्चिक, प्रपाठक, दशति, मन्त्र । उत्तरार्चिक, प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, सूक्त वा वृच ।	
त्रि० = त्रिलिङ्ग (विशेषण) ।		(), इस कोष्ठ में मन्त्र के शब्द हैं ।	
न० = नपुंसकलिङ्ग ।		[], ऐसे कोष्ठ के शब्द व्याख्या वा अध्याहार हैं ।	
नि०, निरु० = निरुक्त, अध्याय, खण्ड, (यास्कमुनि कृत) ।		०—... = अन्त के भाग में पूर्व भाग मिलाकर पूरा पद कहेंगे, जैसे अश्विना = ०-नौ = अश्विनौ ।	
निघ० = निघण्टु, अध्याय, खण्ड, (यास्क-मुनि कृत) ।			
प० प० = परस्मैपदी ।			
पा० = पाणिनीय व्याकरण-अष्टाध्यायी, अध्याय, पाद, सूत्र ।			

॥ अथर्व ॥

अथर्ववेदभाष्यभूमिका ॥



१-ईश्वरस्तुतिप्रार्थना ।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्व १^१ यस्य च केवलं तस्मै^१ ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥

अथर्व० का० १० सू० ८ म० १ ॥

(यः) जो परमेश्वर (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् काल का, (च) और (यः) जो (सर्वम्) सब संसार का (च) अवश्य (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है । (च) और (स्वः) सुख (यस्य) जिस का (केवलम्) केवल स्वरूप है, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) सब से बड़े (ब्रह्मणे) ब्रह्म, जगदीश्वर को (नमः) नमस्कार है ॥

हे परमपिता, परमान्मन् ! आप, भूत, भविष्यत्, वर्तमान और सब जगत् के स्वामी हैं, आप केवल आनन्द स्वरूप और अनन्त सामर्थ्य वाले हैं । हे प्रभु ! आप हमारे हृदय में सदा विराजिये, आप को हमारा बारम्बार नमस्कार है ॥

यामृपयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।

तथा मामद्य मेधाग्नौ मेधाविनै कृणु ॥ २ ॥

अथर्व० का० ६ सू० १०८ म० ४ ॥

(अग्ने) हे सर्वव्यापक, प्रकाश स्वरूप परमेश्वर ! (याम्) जिस (मेधाम्) धारणवती बुद्धि का (भूतकृतः) यथार्थ काम करने हारे, (मेधाविनः) बड़

बुद्धि वाले , (ऋषयः) वेद का तत्त्व जानने वाले ऋषि , (विदुः) ज्ञान रखने हैं , (तथा) उस (मेधया) अचल बुद्धि से (माम्) मुझ को (अथ) आज (मेधाविनम्) अचल बुद्धि वाला (कृणु) कर ॥

हे सर्वविद्यामय जगदीश्वर ! आप के अनुग्रह से वह एढ़ निश्चल बुद्धि हमारे हृदय में विराजमान रहे जैसी धार्मिक , विवेकी, परीपकारी ऋषि महात्माओं की होती है, जिस से हमें वेदों का यथार्थ ज्ञान हो और हम संसार भर में उसका प्रकाश करें ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो
जगते पुरुषेभ्यः । विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु
ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ ३ ॥

अथर्व० का० १ सू० ३१ म० ४ ॥

(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) हाँवे , और (गोभ्यः) गौओं के लिये, (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) आनन्द हाँवे । (विश्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) उत्तम पेशवर्य और (सुविदत्रम्) उत्तम ज्ञान वा कुल (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो , (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) सूर्य को (पच) ही (दृशेम) हम देखते रहें ॥

हे परम रक्षक परमात्मन् ! हमें वेद विज्ञान दीजिये जिस से हम अपने कर्तव्य को समझें और करें , अपने हितकारी माता पिता आदि सब परिवार, सब मनुष्यों , सब गौ आदि पशुओं , और सब संसार की सेवा कर सकें , और सब के आनन्द में अपना आनन्द जानें , और जैसे सूर्य के प्रकाश में सब कामों को सुख से करते हैं, वैसे ही, हे प्रकाशमय, ज्ञान स्वरूप, सर्वान्तर्यामी प्रभु ! आप के ध्यान में मग्न होकर हम सदा प्रसन्न चित्त रहें ॥

२-वेद ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥

ऋ० १० । ६० । ६, यजु० ३१ । ७, तथा अथर्व० १६ । ६ । १३

(तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय और (सर्वहुतः) सब के ग्रहण करने योग्य परमेश्वर से (ऋचः) ऋग्वेद [पदार्थों की गुणप्रकाशक विद्या] के मन्त्र और (सामानि) साम वेद [मोक्ष विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये । (तस्मात्) उस से (छन्दांसि) अथर्ववेद [आनन्ददायक विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये, और (तस्मात्) उस से ही (यजुः) यजुर्वेद [सत्कर्मों का ज्ञान] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादुपाकषन् । सा-
मानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् । स्कम्भं
तं ब्रूहि कतुमः स्विदेव सः ॥ २ ॥

अथर्व० का० १० । सू० ७ । म० २० ॥

(यस्मात्) जिस परमेश्वर से प्राप्त करके (ऋचः) पदार्थों के गुणप्रकाश मन्त्रों को (अप-अतक्षन्) उन्होंने [ऋषियों ने] सूक्ष्म किया [भले प्रकार विचारा], (यस्मात्) जिस ईश्वर से प्राप्त करके (यजुः) सत्कर्मों के ज्ञान को (अप-अकषन्) उन्होंने कस, अर्थात् कसौटी पर रक्खा, (सामानि) मोक्ष विद्यायें (यस्य) जिस के (लोमानि) रोम के समान व्यापक हैं, और (अथर्व-अङ्गिरसः) अथर्व अर्थात् निश्चल जो परब्रह्म है उसके ज्ञान के मन्त्र (मुखम्) मुख के समान मुख्य हैं, (सः) वह (एव) निश्चय करके (कतुमःस्वित्) कौन सा है । [इसका उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) खंभ के समान ब्रह्मांड का सहारा देने वाला ईश्वर (ब्रूहि) तू कह ॥

इस से सिद्ध है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ईश्वरकृत हैं, और चारों वेद सामान्यता से सार्वलौकिक सिद्धान्तों से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्य मात्र और सब संसार के लिये कल्याणकारक हैं ॥

उस परम पिता जगदीश्वर का अति धन्यवाद है कि उसने संसार की भलाई के लिये सृष्टि के आदि में अपने अटल नियमों को इन चारों वेदों के द्वारा प्रकाशित किया । यह चारों वेद एक तो सांसारिक व्यवहारों की शिक्षा से परमात्मा के ज्ञान का, और दूसरे परमात्मा के ज्ञान से सांसारिक व्यवहारों का उपदेश करते हैं । संसार में यही दो मुख्य पदार्थ हैं जिन की यथार्थ प्राप्ति और अभ्यास पर मनुष्य मात्र की उन्नति का निर्भर है । इन चारों वेदों को ही त्रयी

विद्या [तीन विद्याओं का भण्डार] कहते हैं। जिस का अर्थ परमेश्वर के कर्म उपासना और ज्ञान से संसार के साथ उपकार करना है।

वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १ ॥

अथर्ववेद-का० ११, सू० ५, म० १७ ।

(ब्रह्मचर्येण) वेदविचार और जितेन्द्रियता रूपी (तपसा) तप से (राजा) राजा (राष्ट्रम्) राज्य की (वि) अनेक प्रकार से (रक्षति) रक्षा करता है। (आचार्यः), अंगों और उपाङ्गों सहित वेदों का अध्यापक, आचार्य (ब्रह्मचर्येण) वेद विद्या और इन्द्रियदमन के कारण (ब्रह्मचारिणम्) वेद विचारने वाले जितेन्द्रिय पुरुष से (इच्छते) प्रेम करता है, अर्थात् वेदों के यथावत् ज्ञान, अभ्यास, और इन्द्रियों के दमन से मनुष्य सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति की परा सीमा तक पहुँच जाता है ॥

भगवान् कणादमुनि कहते हैं-वैशेषिक दर्शन, अध्याय ६, आह्निक १, सूत्र १ ॥

बुद्धिपूर्वा वाक्यवृत्तिर्वेदे ॥ १ ॥

वेद में वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक है [अर्थात् वेद में सब बातें बुद्धि के अनु० कूल हैं] ॥

परिडित अन्नम्भट् तर्कसंग्रह पुस्तक के शब्दखण्ड में लिखते हैं।

वाक्यं द्विविधं वैदिकं लौकिकं च । वैदिकमीश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम् । लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम् ।

वाक्य दो प्रकार का है, वैदिक और लौकिक । वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने से सब ही प्रमाण है । लौकिक वाक्य केवल सत्यवक्ता पुरुष का वचन प्रमाण है ॥

मनु महाराज मनुस्मृति में लिखते हैं ।

वेदमेव सदाभ्यसेत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः ।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १ ॥ २ ॥ १६६ ॥

द्विजों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] में श्रेष्ठ पुरुष, [ब्रह्मचर्य आदि] तप तपना हुआ, वेद ही का नदा अभ्यास करे। वेदों का अभ्यास ही पण्डित पुरुष का परम तप यहां [इस जन्म में] कहा जाता है ॥ १ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥२॥ १२।१८७॥

चार वर्ण [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र] तीन लोक [स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूलोक], चार आश्रम [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास], और भूत, वर्तमान और भविष्यत्, अलग अलग सब वेद से प्रसिद्ध होता है ॥ २ ॥

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥३॥ १२।१८८॥

वेद शास्त्र का जानने वाला पुरुष, सेनापति के अधिकार, और राज्य, और भी दण्ड देने के पद, और सब लोगों पर आधिपत्य [चक्रवर्ति राज्य] के योग्य होता है ॥ ३ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो घनतत्राश्रमे वसन् ।

इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥४॥ १२।१८९॥

वेद शास्त्र के अर्थ का तत्त्व जानने वाला पुरुष चाहे किसी आश्रम में रहे, यह इस लोक [जन्म] में ही रहकर मोक्ष [परम आनन्द] पद के लिये योग्य होता है ॥ ४ ॥

इसी प्रकार सब शास्त्रों में वेदों की अपूर्व महिमा का वर्णन है ।

इन दिनों प्रत्येक मनुष्य वेद वेद पुकार रहा है। जर्मनी, इंग्लैंड देश आदि विदेशों में वेदों का चर्चा फैल रहा है। वेदों के भिन्न-भिन्न भागों के अनुवाद भी अंग्रेजी, लेटिन, जर्मन आदि भाषाओं में वहां के विद्वानों ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार किये हैं। महर्षि त्रिफुलिङ्ग साहिव ने चारों वेदों का अंग्रेजी अनुवाद वैदिक छन्दों में छन्दोबद्ध किया है। महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती का वेद विषयक परिश्रम सुप्रसिद्ध है। उन के रचे निम्नलिखित वैदिक ग्रन्थ महा उपकारी हैं।

१-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ।

२-ऋग्वेदभाष्य [जो मण्डल ७ सूक्त ६१ मन्त्र २ तक हुआ है] ।

३-यजुर्वेदभाष्य ।

४-सत्यार्थप्रकाश ।

अन्य भी विद्वानों श्री सायणाचार्य आदि ने वेदों की रक्षा और व्याख्या के लिये अनेक प्रयत्न किये हैं, और अब भी विद्वान् लोग परिश्रम उठा रहे हैं ॥

३—अथर्ववेद ॥

ऊपर कह आये हैं कि ईश्वरकृत चारों वेदों में से अथर्ववेद एक वेद है । उसके नाम छन्द (छन्दांसि), अथर्वाङ्गिरा (अथर्वाङ्गिरसः) और ब्रह्म वेद हैं । इन शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं । (१) अथर्ववेद, यह अथर्व [अथर्वन्] और वेद इन दो शब्दों का समुदाय है । थर्व धातु का अर्थ चलना और अथर्व का अर्थ निश्चल है, और वेद का अर्थ ज्ञान है, अर्थात् अथर्व, निश्चल, जो एक रस सर्वव्यापक परब्रह्म है, उस का ज्ञान अथर्ववेद है । (२) छन्द, इस का अर्थ आनन्ददायक है, अर्थात् उस में आनन्ददायक पदार्थों का वर्णन है । (३) अथर्वाङ्गिरा, इस पद का अर्थ यह है कि उस में अथर्व, निश्चल परब्रह्म बोधक अङ्गिरा अर्थात् ज्ञान के मन्त्र हैं । (४) ब्रह्मवेद अर्थात् जिस में ब्रह्म जगदीश्वर का ज्ञान है, और जिसके मनन और साक्षात् करने से ब्रह्मात्मा [ब्राह्मणों, ब्रह्म-ज्ञानियों] को मोक्ष सुख प्राप्त होता है ॥

(१) अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिपेधः-निरु० ११ । १२ ।
स्नामदिपद्यार्त्तिपृशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति अ + थर्व चरणे-वनिप् ।
वकारलोपः । न थर्वति न चरतीति अथर्वा दृढस्वभावः । हलश्च । पा० ३ । ३ ।
१२१ । इति विद ज्ञाने-घञ् । इति वेदो ज्ञानम् । अथर्वणो दृढस्वभावस्य
परमेश्वरस्य वेदोऽथर्ववेदः ॥

(२) चन्द्रेरादेश्च छुः । उ० ४ । २१६ । इति चदि आह्लादे-असुन्, चस्य
छुः । चन्दयति आह्लादयतीति छन्दः ॥

(३) अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च । उ० ४ । २२६ । इति अगि गतौ-असि,
इरुट् आगमः । अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा परब्रह्म येनेति अङ्गिराः, वेदः ।
अथर्वणोऽङ्गिरसोऽथर्वाङ्गिरसः ॥

(४) वृहेर्नोऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति वृहि वृद्धौ-मनिन् । नकारस्य अकारः,
रत्वं च । वृहति वर्धते सर्वेभ्योऽधिको भवतीति ब्रह्म परमेश्वरः । ब्रह्मणोवेदो
ब्रह्मवेदः ॥

अथर्ववेद संहिता भट्ट आर० रोथ साहिव और डबिल्यू० डी० विहटनी साहिव [Professors R. Roth and W. D. Whitney] ने जर्मनी देश के बर्लिन नगर में सन् १८५६ ईस्वी में छपवाई थी [See Page 10, Critical Notes on Atharva Samhita with the Commentary of Sayana-charya, Government Central Book Depot, Bombay; and page XIII, Griffith's English Translation of the Atharva Veda.] । अथर्ववेद संहितायें तो और भी छप गयी हैं । श्री सामणाचार्यकृत भाष्य केवल गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो बंबई की ओर से छपा है, वह भी असंपूर्ण [लगभग आधे वेद का भाष्य] और केवल संस्कृत में है और उसके चार वेष्टनों का मूल्य ४०) चालीस रुपया है । इस से बड़े २ धनी विद्वान् ही उस को देख सकते हैं, सामान्य पुरुषों को उसका मिलना और समझना कठिन है ।

४-अथर्ववेद विस्तार ॥

हमारे पास तीन अथर्व संहिता पुस्तक हैं, १-सायणभाष्य सहित बंबई गवर्नमेन्ट मुद्रापित, २-पं० सेवकलाल कृष्णदास मुद्रापित, और ३-अजमेर वैदिक यन्त्रालय मुद्रित । हम ने तीनों संहिताओं को मिलाकर अध्ययन किया है । विस्तार का विवरण अजमेर पुस्तक के अनुसार अन्य पुस्तकों से मिलान करके आगे लिखा है ।

अथर्ववेद (ये त्रिपुष्पाः परियन्ति...) इस मन्त्र से लेकर (पना-य्यं तदश्विना कृतं वा...) इस मन्त्र तक है । इस में २० बीस काण्ड, ७३१ सात सौ इकतीस सूक्त, और ५,६७७ पाँच सहस्र नौ सौ सतहत्तर मन्त्र हैं । यह गणना आगे भूमिका के अन्त में चर्कों में वर्णित है ।

उक्त तीनों पुस्तकों को मिलाने से मन्त्र संख्या में यह भेद

(अ) पं० सेवकलाल के पुस्तक से मिलान ।

उक्तपुस्तक में मन्त्र		अन्य दो पुस्तकों में मन्त्र		भेद
		काण्ड = ।		
सूक्त १०। पर्याय १।	मन्त्र १ से ७=७	=	१३	— ६
" " ३।	म० १८ से २१=४	=	=	— ४
" " ४।	म० २२ से २५=४	=	१६	— १२
" " ५।	म० २६ से २८=३	=	१६	— १२
योग	१८		५१	— ३४

काण्ड ६।

सूक्त ६। पर्याय ४।	म० ४० से ४४=५	=	१०	—५
” ” ५।	म० ४५ से ४८=४	=	१०	—६
योग	६		२०	—११

काण्ड १६।

सूक्त ३८।	म० १ से २ = २	=	३	—१
” ४७।	म० १ से १०=१०	=	६	+१
” ५४।	म० ५, ६ = २	=	१ (म० ५)	+१
” ५५।	म० १ से ७ = ७	=	६	+१
” ५७।	म० १ से ६ = ६	=	५	+१
योग	२७		२४	+३

काण्ड २०।

सूक्त ६६।	म० १-२३=२३	=	२४	—१
सूक्त १३१।	म० १-२३=२३	=	२०	+३
योग	४६		४४	+२
महा योग	१०१		१४१	—४०

सब मिलाकर पं० सेवकलाल कृष्णदास के पुस्तक में जो ४० मन्त्र घटते हैं, (हृदयात् ते परि क्लोमनो हलीक्षणात् पार्श्वभ्याम् । यद्मं संतस्नाभ्यां ह्रीं ह्नो यन्त्रस्ते विवृहामसि ।) वस्तुतः यह एक मन्त्र अन्य दोनों पुस्तकों के का० २० सू० ६६ का म० १६ उस में नहीं है। अन्य ३६ मन्त्रों की न्यूनता केवल मन्त्र भागों के छोटे बड़े और आगे पीछे होने से है, इन का पूरा पाठ तौ मिलाकर अन्य पुस्तकों के तुल्य है। इस गणना से इस पुस्तक के समग्र मन्त्र ५,६७७-४०=५,६३७ होते हैं ॥

(आ)-वैदिक यन्त्रालये के पुस्तक का सायणभाष्य सहित बंबई के पुस्तक से मिलान।

सायणभाष्य वाले पुस्तक में इतना अधिक है कि काण्ड १६ के अन्त में ७२ मन्त्र का एक पर्याय है, जो १८ मन्त्र इस पुस्तक के काण्ड ११ सूक्त ४

पर्याय २ में मन्त्र १ से १८ तक, और अन्य पुस्तकों के कारण ११ सूक्त ३ पर्याय २ में मन्त्र ३२ से ४६ तक आचुके हैं, अर्थात् इन १८ मन्त्र के ७२ मन्त्र होकर सायण भाष्य में एक पर्याय कारण १६ के अन्त में अलग है । अन्य पुस्तकों में [भट्ट त्रिफुक्थि के अंगरेजी अनुवाद सहित] यह पर्याय कारण १६ के अन्त में नहीं है, केवल कारण ११ में ही आया है, यही पाठ हमने रक्खा है । यह पुनर्लेख सायण पुस्तक में उस समय की पाठ प्रणाली के अनुसार दीखता है । इस बात को छोड़कर शेष मन्त्र संख्या अजमेर पुस्तक के तुल्य है ॥

५-सूक्त भेद ॥

सायण भाष्य में ७५६ [सात सौ उनसठ] और अजमेर वैदिक यन्त्रालय की पुस्तक में ७३१ सूक्त हैं । यह २८ सूक्तों की अधिकता का विवरण नीचे दिनाया जाता है । मन्त्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है ।

कारण जिनमें भेद है	सायण भाष्य में सूक्त	वैदिक यन्त्रालय की पुस्तक में सूक्त	सायणभाष्य में अधिक
७	१२३	११८	५
८	१५	१०	५
६	१५	१०	५
११	१२	१०	२
१२	११	५	६
१३	६	४	५
६ कांड	१८५	१५७	२८

६-अनुवाक ।

सूक्त और मन्त्रों के अतिरिक्त, कारणों का विभाग अनुवाक और सूक्तों में है । परन्तु कारणों में सूक्तों की गणना लगातार चली गयी है, इस से अनुवाकों की गणना का यहां नहीं दिखाना, पुस्तक के भीतर अपने स्थान पर दिखाया है ।

७-सायण भाष्य असंपूर्ण है ।

अथर्ववेदसंहिता, सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गयर्समेन्ट सेन्ट्रल मुक[डिपो, वॉशिंग्टन] से छपी दीखती है, इसके अतिरिक्त और कोई भाष्य

प्रतीत नहीं होता । इस पुस्तक में केवल दस काण्डों से कुछ अधिक का भाष्य इस प्रकार है—काण्ड १, २, ३, ४, ६, ७, ८ [सूक्त ६ तक] ११, १७, १८, १९, २० [सूक्त ३७ तक] । [इतना भाष्य नहीं है—काण्ड ५, ८ (सूक्त ७-७५), ९, १०, १२, १३, १४, १५, १६, २० (सूक्त ३८-१४३)] ॥

८—अथर्ववेद पुस्तकें और अपना भाष्य ।

१—अथर्ववेद संहिता श्री सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गवर्नमेन्ट बुक डिपो, बंबई, चार वेष्टन । वेष्टन १ तथा २ सन् १८६५, वेष्टन ३ तथा ४ सन् १८६८ ईसवी ।

२—अथर्ववेद संहिता मूल, परिणत सेवकलाल कृष्णदास संशोधित—बंबई, सन् १८६३ [पत्थर का छापा] ।

३—अथर्ववेद संहिता, मूल, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, संवत् १९५८ = विक्रमीय [सन् १९०१ ईस्वी] ।

४—अथर्ववेद संहिता, अंग्रेजी अनुवाद, भट्ट त्रिफुलि साहिब कृत दो वेष्टन, वेष्टन १ सन् १८६५, वेष्टन २ सन् १८६६ ई० ।

इस भाष्य के बनाने में यह सब पुस्तकें और श्री सायणाचार्य कृत ऋग्वेद और सामवेद भाष्य, श्री महीधर कृत शुक्ल यजुर्वेद भाष्य, श्री महयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य, परिणत तुलसी राम कृत सामवेद भाष्य, यास्क मुनि कृत निघण्टु और निरुक्त, और पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी व्याकरण, सर राजा राधाकान्त देव बहादुर कृत शब्द कल्प द्रुम कोष, और अन्य ग्रन्थ मुझे बहुत उपयोगी हुये हैं, इस लिये उन ग्रन्थ कर्त्ता महाशयों को मेरा हार्दिक धन्यवाद है ।

हमारे भाष्य में संहिता पाठ वैदिक यन्त्रालय अजमेर के पुस्तक का है, पदपाठ इस पुस्तक और सायण भाष्य के अनुसार है । पाठान्तर टिप्पणियों में दिखाया है । स्पष्टता और संक्षेप के ध्यान से भाष्य का काम यह रक्खा है ।

१—देवता, छन्द, उपदेश ।

२—मूलमन्त्र—स्वरसहित ।

३—पदपाठ—स्वरसहित ।

४—सान्वय भाषार्थ ।

५—भाषार्थ ।

६-आवश्यक टिप्पणी, संहिता पाठान्तर, अनुरूप विषय और अन्य वेदों में मन्त्रका पता आदि विवरण ।

७-शब्दार्थ व्याकरणादि प्रक्रिया-व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, पर्यायआदि । सहज पते के लिये काण्ड काण्ड के विषय आदि, और अथर्ववेद के अन्य वेदों में मन्त्रों की सूची भी दीयी है ।

६-ऋषि, देवता, छन्द ।

ऋषि वह महात्मा कहलाते हैं जिन्होंने वेदों के सूक्ष्म अर्थों को प्रकाशित किया है [निरु० १ । २० । तथा २ । ११], देवता उसको कहते हैं जिस के गुणों का वर्णन मन्त्र में प्रधानता से हो [निरु० ७ । १], मितान्तर वाक्य छन्द कहाते हैं । जिस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में सूक्त इत्यदि के साथ ऋषि, देवता और छन्द लिखे हैं, उस प्रकार अथर्ववेद संहिताओं में नहीं हैं । हम ने इस भाष्य में सूक्तों के शीर्षक पर देवता, छन्द और प्रकरण दिये हैं । ऋषियों का नियम नहीं हो सका ।

१०-निवेदन ।

निःसन्देह अथ वह समय है कि सब स्त्री पुरुष घर घर में वेदों का अर्थ जानें और धर्मज्ञ होकर पुरुषार्थी बनें । भारतीय और अन्य देशीय विद्वान् भी वेदों का अर्थ खोजने और प्रकाशित करने में बड़ा परिश्रम उठा रहे हैं । मेरा भी संकल्प है कि अथर्ववेद का यथाशक्ति सरल, स्पष्ट, प्रामाणिक, और अल्प-मूल्य भाष्य एक एक पूरे काण्ड के पुस्तक रूप में प्रस्तुत करूँ, जिससे सब लोग स्वाध्याय [वेद के अर्थ समझने और विचारने] में लाभ उठावें । और यदि वैदिक ज्ञानु वेदों के सत्यार्थ और तत्त्वज्ञान प्रप्तिमें कुछ भी सहायता पावेंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा ।

५२ लूकरगंज, प्रयाग
(अलाहाबाद) ।

भाद्र शुष्ण जन्माष्टमी १९६६ वि०,

५ सितम्बर १९१२ ।

क्षेमकरादास त्रिवेदी ।

जन्म, कार्तिक शुक्ला ७ संवत् १९०५ विक्रमीय,
(ता० ३ नवम्बर १८४८ ईस्वी)

जन्मस्थान, ग्राम शाहुपुर मडराक,
ज़िला अलीगढ़ ॥

कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड	
सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र
कारण्ड १		२६	६	२०	५	१०	१३	५	७	३५	७
१	४	३०	४	२१	५	११	८	६	८	३६	१०
२	४	३१	४	२२	५	१२	८	७	७	३७	१२
३	८	३२	४	२३	५	१३	७	८	७	३८	७
४	४	३३	४	२४	८	१४	६	८	१०	३९	१०
५	४	३४	५	२५	५	१५	८	१०	७	४०	८
६	४	३५	४	२६	५	१६	७	११	१२	४० ३२४	
७	७	३५	१५३	२७	७	१७	८	१२	७		
८	४	कारण्ड २		२८	५	१८	६	१३	७	कारण्ड ५	
९	४			२९	७	१९	८	१४	८		
१०	४	१	५	३०	५	२०	१०	१५	१६	१	८
११	६	२	५	३१	५	२१	१०	१६	८	२	८
१२	४	३	६	३२	६	२२	६	१७	८	३	११
१३	४	४	६	३३	७	२३	६	१८	८	४	१०
१४	४	५	७	३४	५	२४	७	१९	८	५	८
१५	४	६	५	३५	५	२५	६	२०	८	६	१४
१६	४	७	५	३६	८	२६	६	२१	७	७	१०
१७	४	८	५	३६	२०७	२७	६	२२	७	८	८
१८	४	९	५	कारण्ड ३		२८	६	२३	७	९	८
१९	४	१०	८			२९	८	२४	७	१०	८
२०	४	११	५	१	६	३०	७	२५	७	११	११
२१	४	१२	८	२	६	३१	११	२६	७	१२	११
२२	४	१३	५	३	६	३१	२३०	२७	७	१३	११
२३	४	१४	६	४	७	कारण्ड ४		२८	७	१४	१३
२४	४	१५	६	५	८			२९	७	१५	११
२५	४	१६	५	६	८	१	७	३०	८	१६	११
२६	४	१७	७	७	७	२	८	३१	७	१७	१८
२७	४	१८	५	८	७	३	७	३२	७	१८	१५
२८	४	१९	५	९	६	४	८	३३	८	१९	१५
								३४	८	२०	१२

कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
२१	१२	१६	४	४६	३	७६	४	१०६	३	१३६	३
२२	१४	१७	४	४७	३	७७	३	१०७	४	१३७	३
२३	१३	१८	३	४८	३	७८	३	१०८	५	१३८	५
२४	१७	१९	३	४९	३	७९	३	१०९	३	१३९	५
२५	१३	२०	३	५०	३	८०	३	११०	३	१४०	३
२६	१२	२१	३	५१	३	८१	३	१११	४	१४१	३
२७	१२	२२	३	५२	३	८२	३	११२	३	१४२	३
२८	१४	२३	३	५३	३	८३	४	११३	३	१४२	४५४
२९	१५	२४	३	५४	३	८४	४	११४	३	कारण्ड ७	
३०	१७	२५	३	५५	३	८५	३	११५	३	१	२
३१	१२	२६	३	५६	३	८६	३	११६	३	२	१
३१	३७६	२७	३	५७	३	८७	३	११७	३	३	१
		२८	३	५८	३	८८	३	११८	३	४	१
कारण्ड ६		२९	३	५९	३	८९	३	११९	३	५	५
		३०	३	६०	३	९०	३	१२०	३	६	४
१	३	३१	३	६१	३	९१	३	१२१	४	७	१
२	३	३२	३	६२	३	९२	३	१२२	५	८	१
३	३	३३	३	६३	४	९३	३	१२३	५	९	४
४	३	३४	५	६४	३	९४	३	१२४	३	१०	१
५	३	३५	३	६५	३	९५	३	१२५	३	११	१
६	३	३६	३	६६	३	९६	३	१२६	३	१२	४
७	३	३७	३	६७	३	९७	३	१२७	३	१३	२
८	३	३८	४	६८	३	९८	३	१२८	४	१४	४
९	३	३९	३	६९	३	९९	३	१२९	३	१५	१
१०	३	४०	३	७०	३	१००	३	१३०	४	१६	१
११	३	४१	३	७१	३	१०१	३	१३१	३	१७	४
१२	३	४२	३	७२	३	१०२	३	१३२	५	१८	२
१३	३	४३	३	७३	३	१०३	३	१३३	५	१९	१
१४	३	४४	३	७४	३	१०४	३	१३४	३	२०	६
१५	३	४५	३	७५	३	१०५	३	१३५	३	२१	१

कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
२२	२	५२	२	८२	६	११६	२	(२)	१३	६	२३
२३	१	५३	७	८३	४	११७	१	(३)	६	७	२७
२४	१	५४	२	८४	३	११८	१	(४)	१०	८	३४
२५	२	५५	१	८५	१	११८	२८६	(५)	१०	८	२६
२६	८	५६	८	८६	१	कारण्ड ८		(६)	१४	१०	२७
२७	१	५७	२	८७	१			७	२६	१०	२७
२८	१	५८	२	८८	१	१	२१	८	२२	१० ३१३	
२९	२	५९	१	८९	४	२	२८	९	२२		
३०	१	६०	७	९०	३	३	२६	१०	२८	कारण्ड १२	
३१	१	६१	२	९१	१	४	२५	१० ३१३		१	६३
३२	१	६२	१	९२	१	५	२२			२	५५
३३	१	६३	१	९३	१	६	२६	कारण्ड १०		३	६०
३४	१	६४	२	९४	१	७	२८			४	५३
३५	३	६५	३	९५	३	८	२८	१	३२	५	७३
३६	१	६६	१	९६	१	९	२६	२	३३	५ ३०४	
३७	१	६७	१	९७	८	१०-१	१३	३	३५		
३८	५	६८	३	९८	२	(२)	१०	४	२६	कारण्ड १३	
३९	१	६९	१	९९	१	(३)	८	५	५०		
४०	२	७०	५	१००	१	(४)	१६	६	३५	१	६०
४१	२	७१	२	१०१	१	(५)	१६	७	४४	२	४६
४२	२	७२	३	१०२	१	(६)	४	८	४४	३	२६
४३	१	७३	११	१०३	१	१० २८३		९	२७	४	५६
४४	१	७४	४	१०४	१			१०	३४	४ १८८	
४५	२	७५	२	१०५	१	कारण्ड ९		१० ३५०			
४६	३	७६	६	१०६	१			कारण्ड १४			
४७	२	७७	३	१०७	७	१	२४			कारण्ड ११	
४८	२	७८	२	१०८	३	२	२५	१	३७	१	६४
४९	२	७९	२	१०९	१	३	३१	२	३१	२	७५
५०	८	८०	४	११०	२	४	२४	३	५६	२ १३६	
५१	१	८१	६	१११	४	५	३८	४	२६		
				११२	४	६	१७	५	२६		

कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
कारण्ड १५		कारण्ड १७		१६	११	४६	१०	३	३	३३	३
१	८	१	३०	२०	४	५०	७	४	३	३४	१८
२	२८	१	३०	२१	१	५१	२	५	७	३५	१६
३	११	कारण्ड १८		२२	२१	५२	५	६	६	३६	११
४	१८	१	६१	२३	३०	५३	१०	७	४	३७	११
५	१६			२४	८	५४	५	८	३	३८	६
६	२६			२५	१	५५	६	६	४	३९	५
७	५			२६	४	५६	६	१०	२	४०	३
८	३	३	७३	२७	१५	५७	५	११	११	४१	३
९	३	४	८६	२८	१०	५८	६	१२	७	४२	३
१०	११	कारण्ड १९		२९	६	५९	३	१३	४	४३	३
११	११	१	३	३०	५	६०	२	१४	४	४४	३
१२	११			३१	१४	६१	१	१५	६	४५	३
१३	११			३२	१०	६२	१	१६	१२	४६	३
१४	१४			३३	५	६३	१	१७	१२	४७	२१
१५	२४	३	४	३४	१०	६४	४	१८	६	४८	६
१६	६	४	४	३५	५	६५	१	१९	७	४९	७
१७	८	५	१	३६	६	६६	१	२०	७	५०	२
१८	७	६	१६	३७	४	६७	८	२१	११	५१	४
१९	१०	७	५	३८	४	६८	८	२२	६	५२	३
२०	५	८	७	३९	३	६९	१	२३	६	५३	३
२८	२२०	९	१४	४०	१०	७०	४	२४	६	५४	३
कारण्ड १६		१०	१०	४१	४	७१	१	२५	७	५५	३
१	१३	११	६	४२	१	७२	१	२६	६	५६	६
२	६	१२	१	४३	४	७३ ४५३	१	२७	६	५७	१६
३	६	१३	११	४४	८			२८	४	५८	४
४	७	१४	१	४५	१०	कारण्ड २०		२९	५	५९	४
५	१०	१५	६	४६	१०	१ ३	३	३०	५	६०	६
६	११	१६	२	४७	७			३१	५	६१	६
७	१३	१७	१०	४८	८	२	४	३२	३	६२	१०
८	४	१८	१०	४९	६						
९	१०३	१९	१०	५०	६						

कारण्ड		कारण्ड --		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
६३	६	७७	८	६१	१२	१०५	५	१२३	२	१४१	५
६४	६	७८	३	६२	२१	१०६	३	१२४	६	१४२	६
६५	३	७९	२	६३	८	१०७	१५	१२५	७	१४३	६
६६	३	८०	२	६४	११	१०८	३	१२६	२३		
६७	७	८१	२	६५	४	१०९	३	१२७	१४		
६८	१२	८२	२	६६	२४	११०	३	१२८	१६		
६९	१२	८३	२	६७	३	१११	३	१२९	२०		
७०	२०	८४	३	६८	२	११२	३	१३०	२०		
७१	१६	८५	४	६९	२	११३	२	१३१	२०		
७२	३	८६	१	७०	३	११४	२	१३२	१६		
७३	६	८७	७	७१	३	११५	३	१३३	६		
७४	७	८८	६	७२	३	११६	२	१३४	६		
७५	३	८९	११	७३	३	११७	३	१३५	१३		
७६	८	९०	३	७४	३	११८	४	१३६	१६		
				७५	३	११९	२	१३७	१४		
				७६	३	१२०	२	१३८	३		
				७७	३	१२१	२	१३९	५		
				७८	४	१२२	३	१४०	५	१४३	६५८

योगचक्र ।

कारण्ड	सूक्त	मन्त्र	कारण्ड	सूक्त	मन्त्र	कारण्ड	सूक्त	मन्त्र	कारण्ड	सूक्त	मन्त्र
१	३५	१५३	६	१४२	४५४	११	१०	३१३	१६	६	१०३
२	३६	२०७	७	११८	२८६	१२	५	३०४	१७	१	३०
३	३१	२३०	८	१०	२६३	१३	४	१८८	१८	४	२८३
४	४०	३२४	९	१०	३१३	१४	२	१३६	१९	७२	४५३
५	३१	३७६	१०	१०	३५०	१५	१८	२२०	२०	१४३	६५८
५	१७३	१२६०	५	२६०	१६६६	५	३६	११६४	५	२२६	१८२७

महायोग, कारण्ड २०, सूक्त ७३१ मन्त्र ५, ६७७ ॥



सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश.	छन्द
१	ये त्रिषप्ता परियन्ति	वाचस्पति	वृद्धि वृद्धि	अनुष्टुप्
२	विज्ञा शरस्य पितरं	इन्द्र	तथा	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
३	विज्ञा शरस्य पितरं	पर्जन्य आदि	शान्ति करण	पङ्क्ति, अनुष्टुप्
४	अम्बयो यन्त्यध्वभिर्	आपः	परापकार	गायत्री, पङ्क्ति ।
५	आपो हिष्ठा मयोभुवस्	तथा	बल प्राप्ति	गायत्री ।
६	शं नो देवी रभीष्टय	"	आराग्यता	गायत्री, पङ्क्ति ।
७	स्तुवानमग्न आ वह	इन्द्राग्नी	सेनापति	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् ।
८	इदं हविर्यातुधानान्	अग्नि, सोम	तथा	" "
९	अस्मिन् वसु वसवो	विश्वे देवा	सर्वसम्मत्ति	त्रिष्टुप्
१०	अयं देवानामसुरो	वरुण	वरुण वरण	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् ।
११	वपद् ते पूषन्नस्मिन्	पूषा	सृष्टि विद्या	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
१२	जरायुजः प्रथम उस्त्रियः	वृषा	ईश्वर आदि	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् ।
१३	नमस्ते अस्तु विद्युते	प्रजापति	आत्मरक्षा	अनुष्टुप्, जगती
१४	भगमस्या वर्च आदिप्य	वधूवर	विवाह	अनुष्टुप् ।
१५	सं संस्त्रवन्तु सिन्धवः	प्रजापति	ऐश्वर्यप्राप्ति	अनुष्टुप्, आदि
१६	योऽमावास्यां रात्रि	अग्निआदि	विघ्ननाश	अनुष्टुप् ।
१७	अमूर्या यन्ति योपितो	हिरा	नाडी छेदन	अनुष्टुप्, गायत्री
१८	निर्लदम्यं ललाम्यं	सविता	राजधर्म	अनुष्टुप्, जगती ।
१९	मा नो विदन् विव्याधि	इन्द्र	जय और न्याय	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
२०	अदारसृद् भवतु देव	सोम, मरुत्	शत्रुओंसे रक्षा	जगती, अनुष्टुप् ।
२१	स्वस्तिदा विशां पतिर्	इन्द्र	राजनीति	अनुष्टुप्
२२	अनु सूर्यमुदयतां	सूर्य	रोग का नाश	"
२३	नक्तं जातास्योपधे	ओषधि	रोग नाश	"
२४	सुपर्णो जातः प्रथमस्	तथा	तथा	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
२५	यदग्निरापो अदहत्	अग्नि	रोगशान्ति	त्रिष्टुप् ।
२६	आरे ऽसावस्मदस्तु	इन्द्र	युद्ध प्रकरण	गायत्री ।
२७	अमूः पारे पृदाक्वस्	प्रजापति	"	पङ्क्ति, अनुष्टुप् ।
२८	उप प्रागाह्वो अग्नी	अग्नि	"	अनुष्टुप् ।
२९	अभी वर्तेन मणिना	ब्रह्मणस्पति	राजतिलक	"
३०	विश्वे देवो वसवो	विश्वे देवा	"	त्रिष्टुप् ।
३१	आशानामाशापालेभ्य	प्रजापति	पुरुषार्थ	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् ।
३२	इदं जनासो विदथ	ब्रह्म	ब्रह्मविचार	अनुष्टुप् ।

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
३३	हिरण्यवर्णाः शुचयः	आपः	तन्मात्रायै	त्रिष्टुप् ।
३४	इयं वीरुन्मधुजाता	वीरुध्=लता	विद्याप्राप्ति	अनुष्टुप्
३५	यदावधन् दाक्षायणा	हिरण्य	सुवर्ण आदि	त्रिष्टुप् ।

२—अथर्ववेद, काण्ड १ के मन्त्र अन्य वेदों में संपूर्ण वा कुछ भेद से।

क्र.सं.	मन्त्र	अथर्ववेद सूक्त.मंत्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त, मंत्र	यजुर्वेद, अध्याय, मंत्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
१	अम्बयो यन्तदध्वभिर्	४।१	१।२३।१६		
२	अमूर्या उप सूर्ये	४।२	१।२३।१७		
३	अपो देवीरूप ह्वये	४।३	१।२३।१८		
४	अप्स्वन्तरमृत	४।४	१।२३।१९	६।६	
५	आपो हि छा मयो	५।१	१०।६।१	११।५०-५२	
६	यो वः शिवतमो	५।२	१०।६।२	तथा	
७	तस्मा अरं गमाम वो	५।३	१०।६।३	३६।१४-१६	उ०६।२।१०
८	ईशाना वार्याणां	५।४	१०।६।५		
९	शं नो देवीरभिष्टय	६।१	१।२३।२०, २१	३६।१२	पू०१।३।१३
१०	अप्सु मे सोमो	६।२	१०।६।४, ६		
११	आपः पृणीत भूषजं	६।३	१०।६।७		
१२	यो नः स्वो यो अरणः	१६।३.४	६।७५।१६		उ०६।३।८
१३	वि महच्छर्म यच्छु	२०।३	१०।१५२।५		
१४	शास इत्या महां असि	२०।४	१०।१५२।१		
१५	स्वस्तिदा विशां पति	२१।१	१०।१५२।२		
१६	वि न इन्द्र मृधो जहि	२१।२	१०।१५२।३		
१७	वि रक्षो वि मृधो जहि	२१।३	१०।१५२।४		उ०६।३।७
१८	अपेन्द्र द्विषतो मनो	२१।४	१०।१५२।५		
१९	सुकेषु ते हरिमाणं	२२।४	१।५०।१२		
२०	अभी वर्तेन मणिना	२६।१	१०।१७४।१		
२१	अभिवृत्य सपत्नानभि	२६।२	१०।१७४।२		
२२	अभि त्वा देवः सविता	२६।३	१०।१७४।३		
२३	उदसौ सूर्यो अगादुविदं	२६।५	१०।१५६।१		
२४	सपत्नक्षयणो वृषा	२६।६	१०।१७४।५		
२५	यदावधन् दाक्षायणा	३५।१	—	३४।५२	
२६	नैनं रक्षांसि न पिशाचाः	२५।२	—	३४।५१	

ओ३म् ।

अथर्ववेदः ॥

प्रथमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

मन्त्राः १-४ । वाचस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः, ८x४ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्धयुपदेशः—बुद्धि की वृद्धि के लिये उपदेश ।

ये त्रिपुप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्वला तेषां तुन्वा अद्य दधातु मे ॥ १ ॥
ये । त्रि-सप्ताः । परि-यन्ति । विश्वा । रूपाणि । बिभ्रतः ।
वाचः । पतिः । बला । तेषाम् । तुन्वः । अद्य । दधातु । मे ॥ १ ॥

सान्वय भाषार्थ—(ये) जो पदार्थ (त्रि-सप्ताः) १-सब के संतारक, रक्षक परमेश्वर के सम्यन्ध में, यद्वा, २— रक्षणीय जगत् [यद्वा, —तीन से सम्यन्धी ३-तीनों काल. भूत. वर्तमान, और भविष्यत् । ४-तीनों लोक, स्वर्ग, मध्य, और भूलोक । ५-तीनों गुण, सत्व, रज और तम । ६-ईश्वर, जीव,

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—ये । पदार्थाः । त्रि-सप्ताः । तरतेर्द्धिः । ३०५ । ६६ । इति तु तरणे—द्धि । तरति तारयति तार्यते वा त्रिः ।

और प्रकृति । यद्वा, तीन और सात = दस । ७-चार दिशा, चार विदिशा, एक ऊपर की और एक नीचे की दिशा । ८-पांच ज्ञान इन्द्रिय, अर्थात् कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, और पांच कर्म इन्द्रिय, अर्थात् वाक्, हाथ, पांव, पायु, उपस्थ । यद्वा, तीन गुणित सात=इक्कीस । ९-महाभूत ५ + प्राण ५ + ज्ञान इन्द्रिय ५ + कर्म इन्द्रिय ५ + अन्तःकरण १ इत्यादि] के सम्बन्धमें [वर्त्तमान] होकर, (विश्वा=विश्वानि) सब (रूपाणि) वस्तुओं का (विभ्रतः) धारण करते हुये (परि) सब ओर (यन्ति) व्याप्त हैं । (वाचस्पतिः) वेदरूप वाणी का स्वामी परमेश्वर (तेषाम्) उन के (तन्वः) शरीरके (बला=बलानि बलोंको) (अद्य) आज (मे) मेरे लिये (दध्रातु) दान करे ॥१॥

भावार्थ—आशय यह है कि तृण से लेकर परमेश्वर पर्यन्त जो पदार्थ संसार की स्थिति के कारण हैं, उन सब का तत्त्वज्ञान (वाचस्पतिः) वेद वाणी के स्वामी सर्वगुरु जगदीश्वर की कृपा से सब मनुष्य वेद द्वारा प्राप्त करें और उस अन्तःपरमेश्वरो जगद्धा । संख्यावाची वा । सप्यश्रभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति पप समवाये—कनिन्, तुट् च । सपति समवैतीति सप्तन् संख्याभेदो वा । यद्वा, पप समवाये—क्त । त्रिणा तारकेण परमेश्वरेण तारणीयेण जगता वा सह सम्बद्धाः पदार्थाः । यद्वा । त्रयश्च सप्त चेति त्रिपप्ता दश देवाः । यद्वा । त्रिगुणिताः सप्त एकविंशतिसंख्याकाः पदार्थाः । डच्प्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् । वार्तिकम्, पा० ५ । ४ । ७३ । इति समासे डच् । विशेषव्याख्या भाषायां क्रियते । परि-यन्ति । इण् गतौ—लट् । परितः सर्वतो गच्छन्ति व्याप्नुवन्ति । विश्वा । अश्रु प्रुपिलटिकणिखट्टिविशिभ्यः कन् । उ० १ । १५१ । इति विश प्रवेशे—कन् । शेषञ्चन्दसि बहुलम् । पा० ६ । १ । ७० । इति शेलोपः । विश्वानि । सर्वाणि । रूपाणि । खण्ड्य शिल्प शण्ड्य वाण्ड्यरूपपर्यंतल्पाः । उ० ३ । २८ । इति रु ध्वनौ—प प्रत्ययो दीर्घश्च । रूयते कीर्त्यते तट् रूपम् । यद्वा, रूप रूपकरणे—अच् । सौंदर्याणि, चेतनाचेतनात्मकानि वस्तूनि । विभ्रतः । डु भृञ् धारणपोषणयोः—लटः शतृ । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । नाभ्यस्ताच्छतुः । पा० ७ । १ । ७८ । इति जुमः प्रतिषेधः । धारयन्तः । पोषयन्तः । वाचः । क्विप् वचिप्रच्छिञ्चि० । उ० २ । ५७ । इति वच् वाचि—क्विप् । दीर्घश्च । वाण्याः । वेदात्मिकायाः । पतिः । पातेर्डतिः । उ० ४ । ५७ । इति पा रक्षणे—डति । रक्षकः । सर्वगुरुः परमेश्वरः । वाचस्पतिः—पण्ड्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्गस्य सत्वम् । बला । बल हिंसे जीवने

यामी पर पूर्ण विश्वास करके पराक्रमी और परोपकारी होकर सदा आनन्द भोगें ॥१॥

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—योगदर्शन, पाद १ सूत्र २६ ।

स पूर्वेषासपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

वह ईश्वर सब पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि वह काल से विभक्त नहीं होता ।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।

वसोऽप्यते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥

पुनः । आ । इहि । वाचः । पते । देवेन । मनसा । सह ।

वसोः । पते । नि । रमय । मयि । एव । अस्तु । मयि । श्रुतम् ॥ २ ॥

भाषार्थ (वाचस्पते) हे वाणी के स्वामी परमेश्वर ! तू (पुनः) बारंबार (एहि) आ । (वसोः पते) हे श्रेष्ठ गुरु के रत्नक ! (देवेन) प्रकाशमय (मनसा सह) मन के साथ (नि) निरन्तर (रमय) [मुझे] रमण करा, (मयि) मुझ में वर्त्तमान (श्रुतम्) वेदविज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक (वाचस्पति) परम गुरु परमेश्वर का ध्यान निरन्तर करता रहे और पूरे स्मरण के साथ वेद विज्ञान से अपने हृदय को शुद्ध करके सदा सुख भोगे ॥

च—पचाद्यच् । पूर्ववत् शैलौपः । वलानि । तेषास् । त्रिसप्तानां पदार्थानाम् तन्वः । भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति तनु विस्तृतौ—उ प्रत्ययः । ततः स्त्रियाम् ऊङ् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति विभक्तेः स्वरितः, उदात्तस्य ऊकारस्य यणि परिवर्त्तिते । तन्वाः, शरीरस्य । अद्य । सद्यः परुत्परार्यैषमः० । पा० ५ । ३ । २२ । इति इदम् शब्दस्य अशभावः, द्यस् प्रत्ययो दिनेऽर्थे च निपात्यते । अस्मिन् दिने, अध्ययनकाले । दधातु । दुश्नाञ् धारणपोषणयोः, दाने च—लोट् । जुहोत्यादिः । शपः श्लुः । धारयतु, स्थापयतु, ददातु । से । मह्यम्, मदर्थम् ।

२—पुनः । पनाय्यते स्तूयत इति । पन स्तुतौ—अर् अकारस्य उत्त्वं पृषोदरादित्वात् । अवधारणेन । बारंबारम् । आ+इहि । आ+इण् गतौ । लोट् । आगच्छ । वाचः+पते । मं० १ । हे वाण्याः स्वामिन्, हे ब्रह्मन् । वाचस्पतिर्वाचः पाता वा पालयिता वा—नि० १० । १७ । देवेन । नन्दिग्रहि-

टिप्पणी—भगवान् यास्कमुनि ने (वाचस्पति) का अर्थ “वाचःपाता वा पालयिता वा”—अर्थात् वाणी की रक्षा करने वाला वा कराने वाला किया है—निरु० १० । १७ । और निरु० १० । १८ । में उदाहरण रूप से इस मन्त्र का पाठ इस प्रकार है ।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह
वसोऽपते निरामय मय्येव त्वं १ मम ॥ १ ॥

हे वाणी के स्वामी तू चारम्बार आ । हे धन वा अन्न के रक्षक ! प्रकाशमय मन के साथ मुझ में ही मेरे शरीर को नियम पूर्वक रमण करा ॥

मन की उत्तम शक्तियों के बढ़ाने के लिये (यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवम्) इत्यादि यजुर्वेद अ० ३४ म० १-६ भी हृदयस्थ करने चाहिये ।

इहैवाभि वितनूमे आत्मा इव जयया ।

वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

इह । इव । अभि । वि । तनु । उभे इति । आत्मा इवेत्यात्मा इव । जयया
वाचः । पतिः । नि । यच्छतु । मयि । इव । श्रुतम् । मयि । श्रुतम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इह) इस के ऊपर (एव) ही (अभि) चारों ओर से (वितनु)

पचादिभ्योऽल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषा व्यघ-
हारद्युतिस्तुतिसोदमदस्वप्रकान्तिगतिषु — पचाद्यच् । दिव्येन , द्योतकेन ,
प्रकाशमयेन । मनसा । सर्वधातुस्योऽस्तुन् । उ० ४ । १८६ । इति मन ज्ञाने
अस्तुन् । चित्तेन , अन्तःकरणेन । वसोः । श्चस्व स्निहीति । उ० १ । १० । इति
वस निवासे आच्छादने—उ प्रत्ययः । वसो वसीयश्चेत्यसः । पा० ५ । ४ । ८० ।
अत्र वसु शब्दः प्रशस्तवाची । श्रेष्ठगुणस्य । अथवा छन्दसि वसुनः धनस्य ।
पते । म० १ । पालयितः , स्वामिन् । वसोऽपते । पष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा०
८ । ३ । ५३ । इति विसर्गस्य सत्वम् । आदेशप्रत्ययोः । पा० ८ । ३ । ५६ । इति
पत्वम् । नि । नियमेन , नितराम् । रमय । हेतुमतिच । पा० ३ । १ । २६ । इति
रभु क्रीडायाम्—णिच्—लोट् । णिचि वृद्धिप्राप्तौ । मितां ह्रस्वः । पा० ६ । ४ ।
६२ । इति मित्वात् उपधाह्रस्वः । क्रीडय , आनन्दय माम् । मयि । ममात्मनि
वर्त्तमानम् । श्रुतम् । श्रूयतेस्म यदिति । श्रुधुतौ—क्त । अधीतम्, वेदशास्त्रम् ॥

३—इह । अत्र , अस्योपरि , अस्मिन् ब्रह्मचारिणि , ममोपरि । अभि ।

तू अच्छे प्रकार फैल, (इव) जैसे (उभे) दोनों (आर्त्ती) धनुष कोटियें (ज्यया) जय के साधन, चिह्नके साथ [तन जाती हैं]। (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (नियच्छतु) नियम में रखे, (मयि) मुझ में वर्त्तमान (श्रुतम्) वेद विज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥३॥

भावार्थ—जैसे संग्राम में शूर वीर धनुष् की दोनों कोटियों को डोरी में चढ़ा कर वाण से रक्षा करता है उसी प्रकार आदिगुरु परमेश्वर अपने कृपा-युक्त दोनों हाथों को [अर्थात् अज्ञान की हानि और विज्ञान की वृद्धि को] इस मुझ ब्रह्मचारी पर फैला कर रक्षा करे और नियम पालन में दृढ़ करके परम-सुखदायक ब्रह्मविद्या का दान करे और विज्ञान का पूरा स्मरण मुझमें रहे ॥३॥ भगवान् यास्क के अनुसार—निरुक्त ६। १७ (ज्या) शब्द का अर्थ जीतने वाली यद्वा आयु घटाने वाली अथवा वाणों को छोड़ने वाली वस्तु है ॥

उपहूती वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्हूयताम् ।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि ॥ ४ ॥
उप-हूतः । वाचः । पतिः । उप । अस्मान् । वाचः । पतिः । हूयताम्
सम् । श्रुतेन । गमेमहि । मा । श्रुतेन । वि । राधिषि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी, परमेश्वर (उपहूतः) समीप बुलाया गया है, (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (अस्मान्) हम को उपहूय-

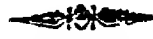
अभितः सर्वतः । वितनु । तनु विस्तारे-लोद्, अकर्मकः । वितनुहि, वितन्यस्व विस्तृतो भव । उभे । ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् । पा० १।१।११। इति प्रगृह्यम् । द्वये । आर्त्ती । आङ् + ऋ गतौ-क्तिन्, नकारोपसर्जनम् । पूर्ववत् प्रगृह्यम् आर्त्ती, धनुष्कोटी, अटन्यौ धनुः प्रान्ते । आर्त्ती अर्तन्यौ वारण्यौ वारिषण्यौ वा निरु० ६।३६॥ ज्यया । ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीपूनीति वा निरु० ६।१७। अघ्न्याद्यश्च । उ० ४।११२। इति जि जये, वा, ज्या वयोहानौ णिच्—वा, जु रंहसि गतौ, णिच्—यक् । निपातनात् साधुः । यद्वा । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३।२।१०१। इति ज्यु गत्याम् यद्वा, ज्या वयोहानौ, णिच्—द । टाप् । धनुर्गुणेन, मौर्व्या । वाचः + पतिः म० १॥ वाण्याः स्वामी । नि + यच्छतु । नियमतु, नियमे रक्षतु । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च ।

४—उप+हूतः । उप+ह्वेञ् आह्वाने—क । समीपं कृतावाहनः, कृत-

ताम्) समीप बुलावे । (श्रुतेन) वेद विज्ञान से (संगमेमहि) हम मिले रहें ।
(श्रुतेन) वेद विज्ञान से (मा विराधिषि) मैं अलग न हो जाऊँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी लोग परमेश्वर का आवाहन करके निरन्तर अभ्यास और सत्कार से वेदाध्ययन करें जिस से प्रीति पूर्वक आचार्य की पढ़ायी ब्रह्म-विद्या उन के हृदय में स्थिर होकर यथावत् उपयोगी होवे ॥

इस सूक्त का यह भी तात्पर्य है कि जिज्ञासु ब्रह्मचारी अपने शिक्षक आचार्यों का सदा आदर सत्कार करके यत्न पूर्वक विद्याभ्यास करें जिससे वह शास्त्र उन के हृदय में दृढ़भूमि होवे ॥ ४ ॥



सूक्तम् २ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४ । अनुष्टुप्, ८×४ । ३
त्रिपदा त्रिष्टुप्, ११×३ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्धयुपदेशः— बुद्धि की वृद्धिके लिये उपदेश ।

विद्मः शूरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।

विद्मो ऽवस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्षसम् ॥ १ ॥

विद्मः शूरस्य । पितरं । पर्जन्यं । भूरि-धायसम् ।

विद्मो इति । सु । अस्य । मातरं । पृथिवीम् । भूरि-वर्षसम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शूरस्य) शत्रु नाशक [वाणधारी] शूर पुरुष के (पितरम्) रक्षक, पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (भूरिधायसम्) बहुत प्रकार

स्मरणः । वाचः+पतिः । म० १ ॥ वाण्याः पालयिता, परमेश्वरः । उप । समीपे । आदरेण । ह्वयताम् । ह्वञ्—लोट् । आह्वयतु स्मरतु । श्रुतेन । म० २ । अधीतेन, शास्त्रविज्ञानेन । सस्+गमेसहि । सम् पूर्वकात् गम्लु संगतौ—आशीर्लिङि । समो गम्यच्छि प्रच्छि० । पा० १ । ३ । २६ । इति आत्मनेपदम् व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ इति समः क्रियापदेन संबन्धः । संगच्छेमहि, संगता भूयास्म । मा+वि+राधिषि । राध संसिद्धौ । विराध वियोगे-लुङि, आत्मनेपदमेकवचनम् इडागमश्च । माङि लुङ् । पा० ३ । ३ । १७५ । इति लुङ् । न माङ् योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इति माङि अटोऽभावः । अहं वियुक्तो मा भूवम् ।

१—विद्मः । विद ज्ञाने-लट् । अदादित्वात् शपो लुक् । वृश्चोऽस्तस्तिङः ।

से पोषण करनेवाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं । (अस्य) इस शूर की माननीया माता, (पृथिवीम्) विख्यात वा विस्तीर्ण पृथिवीरूप (भूरिवर्षसम्) अनेक वस्तुओं से युक्त [ईश्वर] को (सु) भली भाँति (विद्म उ) हम जानते ही हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ, जल की वर्षा करके और पृथ्वी, अन्न आदि उत्पन्न करके प्राणियों का बड़ा उपकार करती है, वैसे ही वह जगदीश्वर परब्रह्म सब मेघ, पृथ्वी आदि लोक लोकान्तरों का धारण और पोषण नियम पूर्वक करता है । जितेन्द्रिय शूरवीर विद्वान् पुरुष उस परब्रह्म को अपने पिता के समान रक्षक, और माता के समान माननीय और मानकर्ता जान कर (भूरिधायाः)

पा० ६ । १ । १३५ । इति साहित्यिको दीर्घः । वयं जानीमः । शूरस्य । शृणाति शत्रून् । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति श्रृ हिंसे-अप् । शत्रुनाशकस्य वाणस्य । अथवा, शरो वाणः, तदस्यास्ति । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । वाणवतः शूरपुरुषस्य । पितरम् । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ ० । उ० २ । ६५ । इति पा रक्षणे-तृन् वा तृच् निपातनात् साधुः । रक्षकम् । जनकम् । पर्जन्यम् । पर्णति सिञ्चति वृष्टिं करोतीति पर्जन्यः । पर्जन्यः । उ० ३ । १०३ । इति पृषु सेचने-अन्य प्रत्ययः, पस्य जकारः । पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परोजेता वा जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम्-निरु० १० । १० । सेचकम् । मेघम् । मेघवद् उपकर्तारम् । भूरि-धायसम् । वहिहाधाभ्य-शृण्वन् । उ० ४ । २२१ । इति भूरि + डुधाञ् धारणपोषणयोः दाने च-असुन्, स च णित् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० । ७ । ३ । ३३ । इति युक् । बहुपदार्थ-धारयितारं सृष्टेः पोषयितारं परमेश्वरम् विद्मी इति । विद्म-उ । वयं जानीम एव । सु । सुष्टु । अस्य । शूरस्य । मातरम् । मान्यते पूज्यते सा माता । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ । उ० २ । ६५ । इति मान पूजायाम्-तृन् वा तृच् निपातः । माननीयाम् । जननीम् । पृथिवीम् । १ । ३० । ३ प्रथिभ्रदिभ्रसृजां सम्प्रसारणं सलोपश्च । उ० १ । २८ । इति प्रथ प्रख्याने-कु । वोतो गुणवचनात् । पा० ४ । १ । ४४ । इति । पृथु-ङीप् । विस्तीर्णा प्रख्याता वा पृथिवी । अथवा, प्रथते विस्तीर्णा भवतीति पृथिवी । प्रथेः पिवन्पवन्पवनः संप्रसारणं च । उ० १ । १५० । इति प्रथ ख्यातौ विस्तारे-पिवन्, संप्रसारणं च । पिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीप् । भूमिम् । भूमिवद् गुणवन्तम् । भूरिवर्षसम् । व्रियते स्वीक्रियते तत् । वर्षा रूपम्-निघ० ३ । ७ । वृड्शीङ्भ्यां रूप-

अनेक प्रकार से पोषण करने वाला और (भूरिवर्षाः) अनेक वस्तुओं से युक्त होकर परोपकार में सदा प्रसन्न रहे ॥ १ ॥

ज्याके परि णो नुमाशमानं तन्वै कृधि ।

वीडुर्वरीयोऽरातीरपु द्वेष्यास्या कृधि ॥ २ ॥

ज्याके । परि । नः । नम । अशमानम् । तन्वैम् । कृधि ।

वीडुः । वरीयः । अरातीः । अप । द्वेषांसि । आ । कृधि ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—[हे इन्द्र] (ज्याके) जय के लिये (नः) हम को (परि) सर्वथा (नम) तू भुका, (तन्वम्) [हमारे] शरीरको (अशमानम्) पत्थर सा [मुटढ़] (कृधि) बनादे । (वीडुः) तू दड़ होकर (अरातीः) विरोधों और (द्वेषांसि) द्वेषों को (अप = अपहृत्य) हटाकर (वरीयः) बहुत दूर (आकृधि) करदे ॥ २ ॥
अथवा, (ज्याके) दोनों जय के साधनों [मेघ और भूमि] को (नःपरि) हमारी ओर (नम) तू भुका । यह अर्थ प्रयुक्त करो ।

भावार्थ—परमेश्वर में पूर्ण विश्वास करके मनुष्य आत्मबल और शरीर बल प्राप्त करें और सब विरोधों को मिटावे ।

स्वाङ्गयोः पुट् च । उ० ४ । २०१ । इति वृड् स्वीकरणे—अनुन्, पुट् आगमः । भूरीणि बहूनि रूपाणि वस्तूनि यस्मिन् स भूरिवर्षाः । अनेकवस्तुयुक्तं परमेश्वरम् ॥

२—ज्याके । ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजाययतीषुनिति घा-निघ० ६ । १७ ॥ खजेराकः । उ० ४ । १३ । इति जि जये-आकप्रत्ययः । निपात्यते च । सप्तम्यधिकरणे च । पा० २ । ३ । ३६ । अत्र । निमित्तात् कर्मसंयोगे सप्तमी वक्तव्या । वार्तिकम् । इति निमित्ते सप्तमी । जयनिमित्ते=जयार्थम् । यहा १ । १ । ३ । ज्या-स्वार्थेकन, टाप् च । जयसाधने [उभे पर्जन्यपृथिव्यां]—त्रियां द्वितीयाद्विवचनम् । परि । परितः सर्वतः । नः । अस्मान् । नम । नमय, प्रहो-कुरु । अशमानम् । अशि शक्तिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । इति अश्रू व्याप्तौ वा अश भोजने—मनिन् । अश्मा मेघनाम-निघ० १ । १० । पापाणं, प्रस्तरवद् दृढम् । तन्वम् । १ । १ । १ छंदसि यण् । उदात्तस्वरतयोर्यणः स्वरतोऽनुदात्तस्य । पा० २ । २ । ४ । इति खरितः । तनूम्, शरीरम् । कृधि । डुकृप् करणे—लोट् । कुरु । वीडुः । भूमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति वील संस्तम्भे—उ, तस्य डः । यौलु-

सायणाचार्य ने अर्थ किया है कि (ज्याके) हे कुत्सित चित्ता ! (नः) हम को (परि) छोड़ कर (नम) झुक । हमारी समझ में वह असंगत है, संपूर्ण सूक्त का देवता इन्द्र है ॥

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यभुम् ।
शरुस्मद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

वृक्षम् । यत् । गावः । परि-सस्वजानाः । अनु-स्फुरम् । शरम् ।
अर्चन्ति । ऋभुम् । शरुम् । अस्मत् । यावय । दिद्युम् । इन्द्र ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (वृक्षम्) धनुष से (परि-सस्वजानाः) लिपटी हुयी (गावः) चिल्ले की डोरियां (अनुस्फुरम्) फुरती करते हुये (ऋभुम्) विस्तीर्ण ज्योति वाले, अथवा सत्य से प्रकाशमान वा वर्तमान, बड़े बुद्धिमान (शरम्) वाणधारी शरपुरुष की (अर्चन्ति) स्तुति करें । [तव] (इन्द्र) हे बड़े पेश्वर्यवाले जगदीश्वर ! [वा. हे वायु !] (शरुम्) वाण और (दिद्युम्) वज्र को (अस्मत्) हम से (यावय) तू अलग रख ॥ ३ ॥

बलनाम निघ० २।६। वीलयतिश्च वीलयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ । निरु०
५।१६। वीडूची दृढा । वरीयः । प्रियस्थिरेत्यादिना । पा० ६।४। १५७।
इति उरु—ईयसुन् । वरादेशः । क्रियाविशेषणम् । उरुतरं दूरतरम् । अरातीः ।
न राति ददाति सुखं स अरातिः शत्रुः । किञ्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३।३।
१७४। इति रा दाने—किञ्, नञ्समासः । सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण० । पा० ७।१।
३६। इति पूर्वसवर्णः । अरातीन् शत्रून् । यद्वा किन् प्रत्ययान्ते, शत्रुभावान्,
विरोधान् । अय । अपहृत्य । द्वेषांसि । द्विष अप्रीतौ भावे—असुन् । द्वेषान्
आ । ईपदर्थे ।

३—वृक्षम् । स्तु वृक्षि च कृत्पिभ्यः कित् । उ० ३।६६। इति ओ वृश्चू
छेदने—क्स प्रत्ययः । वृत्ते वृत्ते धनुषि धनुषि वृक्षो वृश्चनात् — निरु० २।६।
धनुर्दण्डम् । धनुः । यत् । यदा । गावः । गमेडोः । उ० २।६७। इति गम्लु गतौ—
डो । ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत् ताद्धितमथचेन्न गव्या गम्यतीपूनिति—निरु०
२।५। ज्याः, मौर्व्यः । परि-सस्वजानाः । पञ्ज परिष्वङ्गे, लिटः कानच्,
नकारलोपे द्विर्वचनम् । आश्लिष्य धनुष्कोटौ आरोपिताः । अनु-स्फुरम् ।

भाषार्थ—जब दोनों ओर से (आध्यात्मिक वा आधिभौतिक) घोर संग्राम होता हो, बुद्धिमान् चतुर सेनापति ऐसा साहस करे कि सब योद्धा लोग उस की बड़ाई करें, और वह परमेश्वर का सहारा लेकर और अपने प्राण वायु को साधकर शत्रुओं को निरुत्साह करदे, और जय प्राप्त करके आनन्द भोगे ॥३॥

निरुक्त अध्याय २, खंड ६ और ५ के अनुसार (वृत्त) का अर्थ [धनुष] इस लिये है कि उस से शत्रु छेदा जाता है और (गौ) का नाम चिल्ला इसलिये है कि उस से वाणों को चलाते हैं ॥

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।

एवा रोगं चास्त्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

यथा । द्याम् । च । पृथिवीम् । च । अन्तः । तिष्ठति । तेजनम् ।
एव । रोगम् । च । आ-स्त्रावम् । च । अन्तः । तिष्ठतु । मुञ्जः । इत् ॥४॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (तेजनम्) प्रकाश (द्यां च) सूर्य लोक (च) और

स्फुर संचलने-घञर्थे कविधानम् । प्रतिस्फुरणम्, स्फूर्तिर्युक्तम् । शरम् ।
मं० १ । शत्रुछेदकम् । वाणधारकं शरम् । अर्चन्ति । पूजयन्ति; स्तुवन्ति ।
ऋभुम् । ऋ गतौ—क्विप् । ऋकारः=उरु वा ऋतम् । ऋ + भा दीप्तौ वा भू सत्ता-
याम्-ङु । यद्वा, उरुशब्दस्य ऋतशब्दस्य वा ऋकार आदेशः । ऋभव उरु
भान्तीति वच्तेन भान्तीति वच्तेन भवन्तीति वा-निरु० ११ । १५ । ऋभुः=मेधावी-
निघ० ३ । १५ । उरुभासनम्, ऋतेन सत्येन भान्तं भवन्तं वा । मेधाविनम् । शरम् ।
शृङ्खुस्निहि० उ० १ । १० । इति शृङ्गिंसायाम्-उ प्रत्ययः । छेदकं वाणम् । अस्मत् ।
अस्मत्तः । यवय । यु मिश्रणमिश्रणयोः-णिच्-लोट् । पृथक्कुरु, दिव्यम् ।
द्युतिगमिजुहोतां द्वे च । वार्त्तिकम् । पा० ३ । २ । १७८ । इति द्युत दीप्तौ-क्विप् ।
द्योतते उज्ज्वलत्वात् । अथवा दो अवखण्डने-क्विप् । द्यति खण्डयति शत्रून् ।
पृषोदरादिः । तलोपशृङ्गान्दसः । दिद्युत्, वज्रः, निघ० २ । २० । वज्रम् । इन्द्र ।
ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति इदि परमेश्वर्ये—रन् । जिनत्यादिर्नित्यम् ।
पा० ६ । १ । १६७ । इति निस्त्वात् आद्युदात्तत्वे प्राप्ते आमन्त्रितत्वात् सर्वानुदा-
त्तत्वम् । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा ।
पा० ५ । २ । ६३ । वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः-निरु० । ७ । ५ । हे परमेश्वर्य-
वन्, वायो, हे जीव ।

४—यथा । येन प्रकारेण । द्याम् । गमेर्दोः । उ० २ । ६७ । इति बाहु-

(पृथिवीम्) पृथिवी लोक के (अन्तः) बीच में (तिष्ठति) रहता है। (एव) वैसे ही (मुञ्जः) शोधने वाला परमेश्वर [वा औषध] (इत्) भी (रोगं च) शरीर भंग (च) और (आस्त्रावम्) रुधिर के बहाव वा घाव के (अन्तः) बीच में (तिष्ठतु) स्थित होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी क्लेशों में (मुञ्ज) हृदय संशोधक परमेश्वर का स्मरण रखते हैं वे दुःखों से पार होकर तेजस्वी होते हैं। अथवा जैसे सद्बैद्य (मुञ्ज) संशोधक औषधि से बाहिरी और भीतरी रोग का प्रतीकार करता है, वैसे ही आचार्य विद्या प्रकाश से ब्रह्मचारी के अज्ञान का नाश करता है ॥ ४ ॥

सायण भाष्य में (तेजनम्) नपुंसक लिङ्गको [तेजनः] पुंलिङ्ग मानकर [वेणुः] अर्थात् बांस अर्थ किया है वह असंगत है ॥

सूक्तम् ३ ॥

१-८ ॥ पर्जन्यादयो देवताः । १-५ पंक्तिः ८×५, ६-८ अनुष्टुप् छन्दः, ८×४ अक्षराणि ॥

शान्तिकरणम्—शान्ति के लिये उपदेश ।

विद्मः शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्णम् ।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
ब्रहिष्ठं अस्तु बालिति ॥ १ ॥

लकात् घृत दीप्तौ-डो प्रत्ययः । सूर्यलोकम् । पृथिवीम् । मं० २ । प्रख्यातां विस्तीर्णां वा भूमिम् । अन्तः । अम गतौ-अरन्, तुडागमः । अन्तरान्तरेण युक्ते पा० २ । ३ । ४ । इति छन्दसि मध्यशब्दस्य पर्यायवाचकत्वात् अन्तर् इति शब्देन सह द्वितीया । द्वयोर्मध्ये । तिष्ठति । वर्तते । तेजनम् । नपुंसकम् । तिज तीक्ष्णीकरणे-ल्युट् । तेजः प्रकाशः । एव । निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति छन्दसि दीर्घम् । एवम्, तथा । रोगम् । पद रुजविशस्पृशो घञ् । पा० ३ । ३ । १६ । इति रुज भंगे हिंसे च-घञ् । रुजति शरीरम् । शरीरभंगम् । आस्त्रावम् । श्याऽऽह्वयधासु० । पा० ३ । १ । १४१ । इति आङ् + कृ स्रवणे-ण प्रत्ययः । अचो ङिति । पा० ७ । २ । ११५ । इति वृद्धिः । आस्त्रावम्, रुधिरादिस्त्रवणम् । आघातम् । मुञ्जः । मुञ्ज्यते मृज्यते अनेन । मुजि मार्जने शोधने-अच् । परमेश्वरः संशोधकः पदार्थो वा । इत् । एव । अपि ॥

विद्म। शरस्य। पितरम्। पर्जन्यम्। शत-वृष्णयम्। तेन। ते। तन्वे
शम्। करम्। पृथिव्याम्। ते। नि-सेचनम्। वहिः। त्वे। अस्तु।
वाल्। इति ॥१॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा वाण धारी] शर के (पितरम्) रक्षक,
पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (शतवृष्णयम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले
[परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर
के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूँ, और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा
(निसेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे, और (ते) तेरा (वाल्) बैरी (वहिः)
बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) वस यही ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ अन्न आदि उत्पन्न करता है वैसे ही मेघ के भी मेघ
अनन्त शक्तिवाले परमेश्वर को साक्षात् करके जितेन्द्रिय पुरुष (शतवृष्णय)
सैकड़ों सामर्थ्य वाला होकर अपने शत्रुओं का नाश करता और आत्मशक्त बढ़ा
कर संसार में वृद्धि करता है ॥ १ ॥

इस मन्त्र के पूर्वार्ध के लिये १।२। १। देखो।

१-विद्म, शरस्य, पितरम्, पर्जन्यम्। इति पदानि व्याख्यातानि १।

२।१। शतवृष्णयम्। वर्षतीति वृषा। कनिन् शुवृषितक्षात्यादिना। उ८ १
१५६। इति वृषु सेचने-कनिन्। भवे छन्दसि। पा० ४। ४। ११०। इति वृषन्-
यत्। वृष्णि भवं वृष्णयं वीर्यं सामर्थ्यम्। बहुसामर्थ्योपेतं परमेश्वरम्। तन्वे।
१।१।१। तत्रवत् सिद्धिः स्वरितश्च। शरीराय। शम्। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते।
पा० ३। २। ७५। इति शमु उपशमने-विच्। शान्तिम्, स्वास्थ्यम्। सुखम्-निघ०
३। ६। करम्। कुर्वन् करणे-लेट्। अहं कुर्याम्। पृथिव्याम्। १।२।२।
प्रख्यातायां भूमौ। ते। तव। नि-सेचनम्। नि+पिच सेचने-भावे ल्युट्।
आर्द्रीकरणं, वर्धनम्, वृद्धिः। वहिः। वह प्रापणे—इसुन्। वाहाम् वहिर्देशे।
वाल्। बल वधे-किप् बलति हिनस्तीति वाल् बलः, असुरः, दैत्यः, बैरी। इति।
इण् गतौ-क्तिच्। पर्याप्तम् अलम् (इति सर्वकम्) मं० ६-६ ॥

विद्मः शूरस्य पितरं मित्रं शतवृष्णम् ।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बृहिष्ठं अस्तु बालिति ॥ २ ॥

विद्मः । शूरस्य । पितरम् । मित्रम् । शत-वृष्णम् । तेन । ते ।
तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बृहिः ।
ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शूरस्य) शत्रुनाशक शूर [वा वारुणाधी] के (पितरम्) रक्षक
पिता, (मित्रम्) सब के चलाने वाले [वा स्नेहवान्] वायु रूप (शतवृष्णम्)
सैकड़ों सामर्थ्यवाले [परमेश्वर] का (विद्मः) हम जानते हैं । तेन उस [ज्ञान]
से - - - - ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे वायु सब प्राणियों के जीवन का आधार है वैसे ही परमे-
श्वर वायु का भी प्राण है इत्यादि ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (मित्र) शब्द का अर्थ दिन का अभिमानी देवता है ॥

विद्मः शूरस्य पितरं वरुणं शतवृष्णम् ।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बृहिष्ठं अस्तु बालिति ॥ ३ ॥

विद्मः । शूरस्य । पितरम् । वरुणम् । शत-वृष्णम् । तेन ।
ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बृहिः ।
ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ३ ॥

२—मित्रम् । अमिचिमिशसिभ्यः कृः । उ०४ । १६४ । इति डुमिञ् ।
प्रक्षेपणे—कृ । मिनोति प्रेरयति वृष्टिं अन्यपदार्थान् चेति मित्रः, यद्वा मिद-
स्नेहे-त्र । सर्वप्रेरकः । स्नेहवान् । वायुः । वायुवत् उपकारकम् । मित्रशब्दो
भगवता यास्केन मध्यस्थानदेवतासु पठितः—निरु० १० । २१-२२ । अहरभि-
मानी देवो मित्रः—इति सायणः । वायुम् । दिनकालम् । शेषं पूर्ववद् योज्यम्,
मन्त्रे १ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा वाणधारी] शर के (पितरम्) रक्षक, पिता, (वरुणम्) लोकों के ढकनेवाले आकाश रूप विस्तीर्ण (शतवृष्णयम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विष्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से --- ॥ ३ ॥

भावार्थ---आकाश में सूर्य भूमि आदि लोक स्थित हैं और परमेश्वर के आधीन आकाश भी है--इत्यादि ॥ ३ ॥

(वरुण) मध्यस्थान देवतानिरु० १०।३। इस से वृष्टिजल का अर्थ प्रतीत होता है, परन्तु (पर्जन्य) शब्द मं० १ में आ चुका है, इस से यहां पर वृष्टि का आधार और सब का ढकने वाला आकाश अर्थ है। सायण भाष्य में रात्रि का अभिमानी देवता अर्थ है ॥

विद्मः शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्णयम्
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
ब्रहिष्ठे अस्तु बालिति ॥ ४ ॥

विद्मः शरस्य । पितरम् । चन्द्रम् । शत-वृष्णयम् । तेन ।
ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-षेचनम् ।
ब्रहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक (वा वाणधारी) शर के (पितरम्) रक्षक, पिता (चन्द्रम्) आनन्द देने वाले, चन्द्रमा रूप उपकारी (शतवृष्णयम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर को] (विष्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से ॥ ४ ॥

३—वरुणम् । कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३।५३। इति वृज् वरणे-उनन् । आवृणोति लोकान् । मध्यस्थानदेवतासु—वरुणो वृणोतीति सतः—निरु० १०।३। लोकानामावरकम्, अन्तरिक्षम् आकाशं वा । वरणो राज्यभिमानी देवः—इति सायणः । शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्, मं० १ ।

४—चन्द्रम् । स्फायितञ्जीत्यादिना, उ० २।१३। इति चदि आह्लादने-रक् । चन्द्रश्चन्द्रतेः कान्तिकर्मणः निरु० ११।५। आह्लादकं देवं, हिमांशुम् ।

भावार्थ—(चन्द्र) आनन्द देनेवाला अर्थात् अपनी किरणों से अन्न आदि औषधों को पुष्ट करके प्राणियों को बल देता है । उस चन्द्रमा का भी आह्लादक वह परमेश्वर है, ऐसा ही मनुष्य को आनन्द देने वाला होना चाहिये ॥ ४ ॥

विद्मः शरस्य पितरं सूर्यं शतवृण्यम् ।

तेन ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं

बहिष्ते अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

विद्मः । शरस्यः । पितरम् । सूर्यम् । शत-वृण्यम् । तेन । ते । तन्वे ।
शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-षेचनम् । बहिः । ते । अस्तु ।
बाल् । इति ॥ ५ ॥

भावार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक [वा वाणधारी] शर के (पितरम्) रक्षक,
पिता (सूर्यम्) चलनेवाले वा चलानेवाले सूर्य समान [उपकारी] (शतवृण्यम्)
सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्मः) हम जानते हैं । (तेन) उस [ज्ञान]
से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) में करूँ और
(पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा (निषेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे
और (ते) तेरा (बाल्) बैरी (बहिः) बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) वस यही ॥ ५ ॥

भावार्थ—(सूर्य) आकाश में वायु से चलता है और लोकों को चलाता और
वृष्टि आदि उपकार करता और बड़ा तेजस्वी है । वह परब्रह्म उस सूर्य
का भी सूर्य है । उसके उपकारों को जान कर तेजस्वी मनुष्य परस्पर उन्नति
करते हैं ॥ ५ ॥

इन्दुम् । तद्वत् उपकारकम् । अन्यत्—यथा मं० १ ।

५—सूर्यम् । राजसूर्यसूर्येत्यादिना । पा० ३ । १ । ११४ । इति सूर्ये
ष्यप् । निपातनात् ऋकारस्य ऊत्वम् । सरत्याकाशे स सूर्यः । यद्वा, पू प्रेरणे, तुदा-
दिः—अ्यप्, रुट् आगमः । सुवति प्रेरयति लोकान् कर्मणि स सूर्यः । यद्वा सु +
ईर गतौ कर्मणि क्यपि निपात्यते । वायुना । सुष्ठु ईर्यते प्रेर्यते स सूर्यः । सूर्यः
सर्त्तर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा । इति यास्कः—निरु० १२ । १४ । आदित्यम्,
सूर्यवत् उपकारकम् । शेषम्—व्याख्यातम् मं० १ ।

यदुन्नत्रेषु' गवीन्योर्यद् वस्तावधि संश्रुतम् ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥

यत् । अन्नत्रेषु' । गवीन्योः । यत् । वस्तौ । अधि । सम्—श्रुतम् ।

एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति । सर्वकम् ॥ ६ ॥

भाष्यार्थ—(यत्) जैसे (यत्) कि (अन्नत्रेषु) आंतों में और (गवीन्योः) दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में और (वस्ती अधि) मूत्राशय के भीतर (संश्रुतम्) एकत्र हुआ [मूत्र छूटता है] । (एव) वैसे ही (ते मूत्रम्) तेरा मूत्र रूप (बाल्) बंदी (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यही वस है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे शरीर में रुका हुआ सारहीन मल विशेष, मूत्र अर्थात् प्रस्राव क्लेश देता है और उस के निकाल देने से चैन मिलता है वैसे ही मनुष्य आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक शत्रुओं के निकाल देने से सुख पाता है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में (संश्रुतम्) के स्थान में (संश्रितम्) मानकर "समवस्थितम्" [ठहरा हुआ] अर्थ किया है ॥

६—यत् । यथा । अन्नत्रेषु । अमत्यनेन. अम गतौ—क्त, । अति बन्धने — करणे ष्टृन् । उपधादीर्घः । अन्नत्रेषु. उदरनाडीविशेषेषु । गवीन्योः । हुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । इति शुङ् घ्वर्नो—इनन् । डीप् । छान्दसो दीर्घः । पार्श्वद्वयस्ये नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्यते, तयोः—इति सायणः । वस्तौ । वसेस्तिः । उ० ४ । १२० । इति वस आच्छादने—ति प्रत्ययः । वसति मूत्रादिकम् । मूत्राशये । अधि । उपरि, मध्ये । सम्—श्रुतम् । श्रु श्रवणे गतौ च—क्त । सम्यक् श्रुतम् । संगतम् । एव । एवम्, तथा । मूत्रम् । मूत्र प्रस्रावे—घञ् । यद्वा, सिविमुच्योष्टेरूच । उ० ४ । १६३ । इति मुच त्यागे—ष्टृन्. ऊत्वं च । मुच्यते त्यज्यते इति । प्रस्रावः, मेहनम् । सारहीनो मलद्रवः । मुच्यताम् । मुच—कर्मणि लोट् । त्यज्यताम्. निर्गच्छतु । सर्वकम् । अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् ढेः । पा० ५ । ३ । ७१ । इति अकच् । सर्वम् । अन्यद् व्याख्यातं म० १ ॥

प्र ते भिनद्धमि मेहनं वत्रं वेशन्त्या इव ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां ब्रुहिर्वालिति सर्वकम् ॥ ७ ॥

प्र । ते । भिनद्धि । मेहनम् । वत्रम् । वेशन्त्याः—इव ।

एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । ब्रुहिः । बाल् । इति । सर्वकम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—(ते) तेरे (मेहनम्) मूत्र द्वार को (प्रभिनद्धि) मैं खोले देना हूँ, (इव) जैसे (वेशन्त्याः) भील का पानी (वत्रम्) बन्ध को [खोल देता है] । (एव), वैसे ही..... म. ६ ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे सदैव लोह शलाका से रोगी के रुके हुये मूत्र को भील के पानी के समान खोलकर निकाल देता है वैसे ही मनुष्य अपने शत्रु को निकाल देवे ॥ ७ ॥

विपितं ते वस्तिविलं समुद्रस्योदुधेरिव ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां ब्रुहिर्वालिति सर्वकम् ॥ ८ ॥

वि-सितम् । ते । वस्ति-विलम् । समुद्रस्य । उदुधेः—इव ।

एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । ब्रुहिः । बाल् । इति । सर्वकम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—(ते) तेरा (वस्तिविलम्) मूत्र मार्ग (विपितम्) खोल दिया

प्र+भिनद्धि । भिदिर् विदारणे—लट् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ । इति उपसर्गस्य व्यवधानम् । विवृणोमि, विवृतं करोमि । मेहनम् । मिह सेचने-करणे ल्युट् । मेहति सिञ्चति मूत्रम् । मूत्रमार्गम् । वत्रम् । सर्वधातुभ्यः ण् । उ० ४ । १५६ । वृत्तु वर्तने—ण् । बन्धम् । वेशन्त्याः । जृविशिभ्यां ऋच् । उ० ३ । १२६ । इति विश प्रवेशे—ऋच् । भोऽन्तः । पा० ७ । १ । ३ । इति भस्य अन्तादेशः । वेशन्तः, जलाशयः । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । वेशन्ते सरोवरे भवा आपः । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ।

८-वि-सितम् । वि+पो अन्तकर्मणि—क्त, यद्वा, पिञ् बन्धे—क्त । विमुक्तम् वस्ति-विलम् । म० १ । वस्ति + विल स्तृतौ—क्त । मूत्रस्य छिद्रं मार्गम् ।

गया है, (इव) जैसे (उदधेः) जल से भरे (समुद्रस्य) समुद्र का [मार्ग]। (एव) वैसे ही.....। म. ६ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ देखो ॥

यथेषुका पुरापतद्वसृष्टाधि धन्वनः ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्वालितिसर्वकम् ॥ ६ ॥

यथा । इषुका । पुरा-अपतत् । अव-सृष्टा । अधि । धन्वनः ।
एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति । सर्वकम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (धन्वनः अधि) धनुस् से (अवसृष्टा) छुटाछुआ (इषुका) वाण (पुरा-अपतत्) शीघ्र चला गया हो । (एव) वैसे ही (ते) तेरा (मूत्रम्) मूत्र रूप (बाल्) वैरी (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यह वस है ॥ ६ ॥

भावार्थ—सरल है, ऊपर के, मन्त्र देखो ॥ ६ ॥

समुद्रस्य । स्फायितश्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति सम्+उन्दी क्लेदने-रक् सम्यक् उन्नत्ति क्लेदयति जलेन जगत् इति समुद्रः । समुद्रः कस्मात् समुद्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुद्रको भवति समुन्नत्तीति वा-निरु० २ । १० । समुद्रः = अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ । सागरस्य । उदधेः । कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ६३ । इति उद वा उदक + दुधाञ् धारणपोषणयोः- कि । उदकपूर्णस्थ । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ॥

८—इषुका । इषुरीपतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा । निरु० ६ । १८ । इति ईष गतौ वधे-उ प्रत्ययः । स्वार्थे-कन्,टाप् । इषुः,वाणः । पुरा-अपतत् । पत गतौ-लङ् । शीघ्रं दूरे अगच्छत् । अवसृष्टा । सृज-विसर्गे-क्त । विमुक्ता । अधि । पञ्चम्यर्थानुवादो । धन्वनः । कनिन् युवृषितक्षिराजि-धन्विद्युप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । इति धन्व गतौ—कनिन् । धनुषः सकाशात्, चापात् । शेषं पूर्ववत् म० ६ ॥

सूक्तम् ॥ ४ ॥

१-४ । आपो देवताः १-३ गायत्री, ४ पङ्क्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

परस्पर उपकारोपदेशः— परस्पर उपकार के लिये उपदेश ॥

अम्ब्रयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।

पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥

अम्ब्रयः । यन्ति । अध्व-भिः । जामयः । अध्वरि-यताम् ।

पृञ्चतीः । मधुना । पयः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अम्ब्रयः) पाने योग्य मातायें और (जामयः) मिलकर भोजन करने हारी, वहिनें [वा कुलस्त्रियां] (मधुना) मधु के साथ (पयः) दूध को (पृञ्चतीः) मिलाती हुई (अध्वरीयताम्) हिंसा न करने हारे यजमानों के (अध्वभिः) सन्मार्गों से (यन्ति) चलती हैं ॥ १ ॥

१-अम्ब्रयः । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४।११६ । इति अम्ब्र गतौ-इन् । प्रापणीया मानरः । मातृभूता आपः । अम्बाशब्दवद् अम्ब्रशब्दो वेदे मातृवाची । यथा । अम्ब्रितमे नदीतमे । ऋ० २ । ४१ । १६ । अम्ब्रे अम्ब्रिकेऽम्बालिके । य० ३४ । १८ । यन्तिः । इण् गतौ-लट् गच्छन्ति । अध्वभिः । अस्ति, गमनेन वलं नाशयति स अध्वा । अर्धे च । उ० ४ । ११६ । इति अद भक्षणे-कनिष्, पृषोदरादित्वान् दस्य धः । यद्वा । अत सातत्यगमने-क्वनिष्, तकारस्य धः । सन्मार्गैः । जामयः । वसिष्ठपिर्यजिराजि० । उ० ४ । १२५ जम भक्षणे-इञ् । जमन्ति, संगत्य भोजनं कुर्वन्ति ताः । कुलस्त्रियः । भगिन्यः । भगनीवत् सहायभूताः पुरुषाः । अध्वरि-यताम् । अध्वानं सत्पथं रातीति । अध्वन् + रा-दानग्रहणयोः-क । यद्वा । न ध्वरति कुटिलीकरोति हिनस्तीति वा । न + ध्वृ कुटिलीकरणे, हिंसने च-अच् । अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः-निरु० १ । ८ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति अध्वर + क्यच् । शतृ । क्यचि च । पा० ७ । ४ । ३३ । अकारस्य ईत्वम् । सन्मार्गदातारं कौटिल्यरहितं वा यज्ञमिच्छतां यजमानानाम् । पृञ्चतीः । पृची राम्पक्के-शतृ । डीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । पृञ्चत्यः । संयोज-

भावार्थ—जो पुरुष, पुत्रों के लिये माताओं के समान, और भाइयों के लिये बहिनों के समान, हितकारी होते हैं वे सन्मार्गों से आप चलते और सब को चलाते हैं ॥ १ ॥

असूया उप सूर्यं याभिर्वा सूर्यः सह ।

ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

असूः । याः । उप । सूर्यं । याभिः । वा । सूर्यः । सह ।

ताः । नः । हिन्वन्तु । अध्वरम् ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—(असूः) वह (याः) जो [माता और बहिनें] (उप=उपेत्य) समीप होकर (सूर्यं) सूर्य के प्रकाश में रहती हैं, (वा) और (याभिः सह) जिन [माता और बहिनों] के साथ (सूर्यः) सूर्यका प्रकाश है । (ताः) वह (नः) हमारे (अध्वरम्) उत्तम मार्ग देने हारे वा हिंसा रहित कर्म को (हिन्वन्तु) सिद्ध करें वा बढ़ावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में दो बातों का वर्णन है एक यह कि किसी में उत्तम गुणों का होना, दूसरे यह कि उन उत्तम गुणों का फैलाना ॥ ३ ॥

१-जो नररत्न माता और भगिनियों के समान परिश्रमी और उपकारी होकर सूर्य रूप विद्या के प्रकाश में विराजते हैं और जिनके सत्य अभ्यास से सूर्यवत् विद्या का प्रकाश संसार में फैलता है, वह तपस्वी पुण्यात्मा संसार में सुख की वृद्धि करते हैं ॥

यन्त्यः । मधुना । फलिपाटिनमिमनिजनां गक्पटिनाकिधतश्च । उ० १ । १८ ।
इति मन ज्ञाने-उ । धश्चान्तादंशः । रसमेदेन । मधुरगुणेन । पयः । सर्व-
धातुभ्योऽस्तुन् । उ० ४ । १८६ । इति पीड् पाने-अस्तुन् । दुग्धम्, रसम् ॥

२-असूः । अदस्, स्त्रियां जस् । ताः परिदृश्यमानाः । याः । अम्बयो जामयश्च, म० १ । यद्वा । आपः, म० ३ । उप । समापे, उपेत्य । आधिपयेन । आदरेण । सूर्यं । १ । ३ । ५ । आदित्यलोके । सूर्यवद् ज्ञानप्रकाशे । सूर्यप्रकाशे । याभिः । अम्बि-जामिभिः । अद्भिः । वा । समुच्चये । विकल्पे । सूर्यः । १ । ३ । ५ । सवितृ-लोकः । तद्गद् ज्ञानप्रकाशः । सवितृप्रकाशः । सह । पह ज्ञमायाम्-अच् । साहित्ये ।

२—जो (असूः) इत्यादि स्त्री लिंग शब्दों का संबन्ध मन्त्र ३ के (आपः) शब्द से माना जावे तो यह भावार्थ है । पहिले जल मूर्तिमान पदार्थों से किरणों द्वारा सूर्य मंडल में [जहां तक सूर्य का प्रकाश है] जाता है, फिर वही जल सूर्य की किरणों से छिन्न भिन्न होने के कारण दिव्य बनकर भूमि आदि पदार्थों के आकर्षण से बरसता और महा उपकारी होता है । इस जल के समान, विद्वान् पुरुष ब्रह्मचर्य आदि तप करके संसार को उपकार करते हैं ॥

अपो देवीरुपहूये यत्र गावः पिबन्ति नः ।
सिन्धुभ्यः कर्त्वम् हविः ॥ ३ ॥

अपः । देवीः । उप । हूये । यत्र । गावः । पिबन्ति । नः ।
सिन्धुभ्यः । कर्त्वम् । हविः ॥ ३

भाषार्थ—(यत्र) जिस जल में से (गावः) सूर्य की किरणों [वा गीयें आदि जीव वा भूमि प्रदेश] (नः) हमारे लिये (हविः) देने वा लेने योग्य अन्न वा जल (कर्त्वम्) उत्पन्न करने को (सिन्धुभ्यः) बहने वाले समुद्रों से (पिबन्ति) पान करती हैं । (देवीः) उस उत्तम गुण वाले (अपः) जल को (उप) आदर से (हूये) मैं बुलाता हूँ ॥ ३ ॥

नः । अस्माकम् । हिन्वन्तु । हिवि प्रीणने, लोट् । इदितो नुम्धातोः ।
पा० ७ । १ । ५८ । इति इदित्वात् नुम् । अथवा । हि वर्धने स्वादिः—लोट् । प्रीणयन्तु, साधयन्तु । वर्धयन्तु अष्टधुरम् । म० १ । सन्मार्गदातृ हिंसारहितं वा कर्म । यज्ञम् ।

३—अपः । आपोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २ । ५८ । इति आप्ल व्याप्तौ—क्लिप् । इति अप् । अप् शब्दो नित्यस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । व्यापयित्रीः, जल-धाराः । जलवत् उपकारिणः पुरुषान् । देवीः नन्दिग्रहिपचादिभ्यः० । पा० ३ । १ । १२४ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्न-कान्तिगतिषु—पचाद्यच् । ङीप् । दिव्याः, द्योतमानाः । हूये । अहमाह्वयामि । यत्र । यासु अप्सु । गावः १ । २ । ३ । धेनवः । उपलक्षणमेतत् । सर्वे जीवा इत्यर्थः । सूर्यकिरणः । भूलोकाः । पिबन्ति । पात्रा० इत्यादिना । पा० ७ । ३ । ७८ । इति पा पाने—शपि पिवादेशः । पानं कुर्वन्ति । नः । अस्मदर्थम् । सिन्धुभ्यः

भावार्थ—जल को सूर्य की किरणों समुद्र आदि से खींचती हैं वह जल फिर वरस कर हमारे लिये अन्न आदिक पदार्थ उत्पन्न करके सुख देता है । अथवा गौ आदि सब प्राणी जल द्वारा उत्पन्न पदार्थों से सुखी होकर सब को सुखी करते हैं, वैसे ही हम को परस्पर सहायक और उपकारी होना चाहिये ॥ ३ ॥

अप्स्व १ न्तरमृतमप्सु भेषजम् ।

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो

गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

अप्-सु । अन्तः । अमृतम् । अप्-सु । भेषजम् । अपाम् । उत ।
प्रशस्ति-भिः । अश्वाः । भवथ । वाजिनः । गावः । भवथ ।
वाजिनीः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अप्सु अन्तः) जल के बीच में (अमृतम्) रोग निवारक अमृत रस है और (अप्सु) जल में (भेषजम्) भय जीतने वाला औषध है । (उत) और (अपाम्) जल के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से (अश्वाः) हे घोड़ो तुम, (वाजिनः) वेग वाले (भवथ) होते हो, (गावः) हे गौओ, तुम (वाजिनीः=०—न्यः) वेग वाली (भवथ) होती हो ॥ ४ ॥

स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च । उ० १ । ११ । इति स्यन्दू स्रवणे-उ प्रत्ययः, दस्य धः सम्प्रसारणं च । स्यन्दनशीलेभ्यः समुद्रेभ्यः सकाशात् । क्त्वंस् । डुकृञ् करणे-तुम् । छान्दसं रूपम् । कर्तुम् । हविः । अर्चिशुचिहुस्टपिछादिछर्दिभ्य इसिः । उ० २ । १०८ इति । हु दानादानादनेषु—इसि । यद्वा । ह्वञ् आह्वाने—इसि । ह्वयते दीयते गृह्यते वा तद् हविः । हव्यम् । अन्नम् आवाहनम् । उदकम्—निघ० १ । १२ ।

४—अप्सु । मन्त्र ३ । जलधारासु । अन्तः । मध्ये । अमृतम् । रोगनिवारकं रसम् । भेषजम् । भिषजो वैद्यस्येदम् । भिषज्-अण्, निपातनात् पत्वम् । यद्वा भेषं भयं रोगं जयतीति, जि जये—ड । औषधम् अपाम् । म० ३ । जलधाराणाम् । उत । अपि च । प्रशस्ति-भिः । प्र + शन्त्स । स्तुतौ-क्तिन् । उत्तमगुणैः । अश्वाः । हे तुरगाः । भवथ । भू-लट् । यूयं वर्तध्वे ।

भावार्थ—जल से रोग निवारक और पुष्टि वर्धक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जैसे जल से उत्पन्न हुये घास आदि से गौयें और घोड़े बलवान् होकर उपकारी होते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य अन्न आदि के सेवन से पुष्ट रह कर और ईश्वर की महिमा जान कर सदा परस्पर उपकारी बनें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ. १।२३।१६, है ॥

भगवान् मनु ने कहा है—अ. १।८ ॥

सो ऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिंसुर्विविधाः प्रजाः ।

अप एव ससर्जदौ तासु बीजमवासृजत् ॥ १ ॥

उस [परमात्मा] ने ध्यान करके अपने शरीर [प्रकृति] से अनेक प्रजाओं के उत्पन्न करने की इच्छा करते हुये पहिले (अपः) जल को ही उत्पन्न किया और उस में बीज को छोड़ दिया ॥

सूक्तम् ५ ॥

१—४ । आपो देवताः । गायत्री छन्दः ॥

बलप्राप्त्युपदेशः— बल की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

आपो हि ष्ठा मयिभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।

महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

आपः । हि । स्थ । मयः-भुवः । ताः । नः । ऊर्जे । दधातन् ।

महे । रणाय । चक्षसे ॥ १ ॥

भावार्थ—(आपः) हे जलो ! [जल के समान उपकारी पुरुषों] (हि)

वाजिनः । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वाज—भूमि मत्वर्थीय इनि प्रत्ययः । वेगवन्तः, बलयुक्ताः । वाजी वेजनवान्-निरूः २ । २८ । गावः । १ । २ । ३

हे धेनवः । अश्वाः । गावः-सर्वे प्राणिनः इत्यर्थः । वाजिनीः । ऋन्नभ्यो ङीप् ।

पा० ४ । १ । ५ । इति वाजिन्-ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि

पूर्वसवर्णदीर्घः । वाजिन्यः, वेगवत्यः, बलवत्यः ॥

१-आपः । १ । ४ । ३ । हे व्यापयिष्यः । जलधाराः । जलवत् उपकारिणः,

निश्चय करके (मयोभुवः) सुखकारक (स्थ) होते हो, (ताः) सो तुम (नः) हम को (ऊर्जे) पराक्रम वा अन्न के लिये, (महे) बड़े बड़े (रणाय) संग्राम वा रमण के लिये और (चक्षसे) [ईश्वर के] दर्शन के लिये (दधातन) पुष्ट करो ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे जल खान, पान, खेती, बाड़ी, कला, यन्त्र, आदि में उप-कारी होता है, वैसे मनुष्यों को अन्न, बल, और विद्या की वृद्धि से परस्पर वृद्धि करनी चाहिये ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद १० । ६ । १—३ ॥ यजुर्वेद ११ । ५०—५२,
तथा ३६ । १४-१६ सामवेद उत्तरार्चिक प्रपा० ६ अर्थप्र० २ सू० १० ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव सातरः ॥ २ ॥

यः । वः । शिव-तमः । रसः । तस्य । भाजयत् । इह । नः ।
उशतीः-इव । सातरः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (यः) जो (वः) तुम्हारा (शिवतमः) अत्यन्त सुखकारी (रसः) रस है, (इह) यहां [संसार में] (नः) हम को (तस्य) उस

पुरुषाः । हि । निश्चयेन । स्थ । अस सत्तायां-लट् । भवथ । मयः-भुवः । मयः + भू सत्तायां-क्विप् । मिञ् हिंसायाम्-असुन् । मिनोति हिनस्तिदुःखम् । मयः सुखम्-निघ ३ । ६ । सुखस्य भावित्रयः कर्त्तव्यः । ताः । आपो यूयम् । नः । अस्मान् । ऊर्जे । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति ऊर्ज बलप्राणनयोः-क्विप् । बलार्थम् अन्नार्थं वा । दधातन । तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति दुधाञ् धारणपोषणयोः-लोट्, तकारस्य तनप् आदेशः । धत्त, पोषयत् । महे । मह पूजायां-क्विप् । महते । विशालाय । रणाय । रण रवे-वज्रर्थे क । युद्धाय । यद्वा । रमतेर्भावे-ल्युट् मकारलोपश्छान्दसः । रमणाय । क्रीडनाय । रणाय रमणीयाय-निरु० ६ । २७ । यत्रावं मन्त्रो भगवता यास्केन व्याख्यातः । चक्षसे । चक्षेर्बहुलं शिच्च । उ० ४ । २३३ । इति चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च-भावे असुन् । दर्शनाय ॥

२—शिव-तमः । अतिशयने तमधिष्ठनौ । पा० ५ । ३ । ५५ । इति तमप् । अतिशयेन कल्याणकरः । रसः । रस आश्वादे-अच् । सारः ।

का (भाजयत) भागी करो, (इव) जैसे (उशतीः) प्रीति करती हुई (मातरः) मातायें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे मातायें प्रीति के साथ सन्तानों को सुख देती हैं और जैसे जल संसार में उपकारी पदार्थ है, वैसे ही सब मनुष्य परस्पर उपकारी बन कर लाभ उठावें और आनन्द भोगें ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वी यस्य क्षयाय जिन्वथ ।

आपो जुनयथा च नः ॥ ३ ॥

तस्मै^१ । अरम्^२ । गमाम्^३ । वः^४ । यस्य^५ । क्षयाय^६ । जिन्वथ^७ ।

आपः^८ । जुनयथ^९ । च^{१०} । नः^{११} ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुषाधी मनुष्यो !] (तस्मै) उस पुरुष के लिये (वः) तुम को (अरम्) शीघ्र वा पूर्ण रीति से (गमाम) हम पहुँचावें, (यस्य) जिस पुरुष के (क्षयाय) पेश्वर्य के लिये (जिन्वथ) तुम अनुग्रह करते हो । (आपः) हे जलो [जल समान उपकारी लोगों] (नः) हम को (च) अवश्य (जुनयथ) तुम उत्पन्न करते हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे जल, अन्न आदि को उत्पन्न करके शरीर के पुष्ट करने और नौका, विमान आदि के चलाने में उपयोगी होता है इसी प्रकार जल के

भाजयतं । हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति भज सेवायां—णिच्-लोट् । भागिनः कुरुत । सेवयत । उशतीः । वश कान्तौ=अभिलाषे-शत्रु । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्व-सवर्णदीर्घः । उशत्यः, कामयमानाः, प्रीतियुक्ताः । मातरः । १ । २ । १ । जनन्यः ॥

३—अरम् । अ गतौ-अच् । शीघ्रम् । यद्वा, अल भूपणे निवारणे-अमु । तस्य रत्वम् । अलम्, पर्याप्तं पूर्णतया । गमाम् । गम्ल गतौ णिच्-छान्दसो लोट् । वयं गमयाम, प्रापयाम । क्षयाय । परच् । पा० ३ । ३ । ५६ । इति क्षि निवासे पेश्वर्ये च—अच् । निवासाय । पेश्वर्यप्राप्तये । जिन्वथ । जिवि प्रीयाने लट् । श्रूयं तर्पयथ । चर्धयथ । अनुगृहीध्वम् । आपः । १ । ४ । ३ । हे जल-

समान उपकारी पुरुष सब लोगों को लाभ और कीर्ति के साथ पुनर्जन्म देते हैं ॥ ३ ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।

अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

ईशानाः । वार्याणाम् । क्षयन्तीः । चर्षणीनाम् ।

अपः । याचामि । भेषजम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वार्याणाम्) चाहने योग्य धनों की (ईशानाः) ईश्वरी और (चर्षणीनाम्) मनुष्यों की (क्षयन्तीः) स्वामिनी (अपः) जल धाराओं [जल के समान उपकारी प्रजाओं] से मैं, (भेषजम्) भय जीतनेवाले औषध को (याचामि) मांगता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जल से अन्न आदि औषध उत्पन्न होकर मनुष्य के धन और बल का कारण हैं । सो जल के समान गुणी महात्माओं से सहाय लेकर मनुष्यों को आनन्दित रहना चाहिये ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋ. १०।६।५। है ॥

धाराः । जनयथ । हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति जनी प्रादुर्भावे-णिच्-लट्, सांहितको दीर्घः । यूयं प्रादुर्भावयथ, उत्पादयथ, प्रजया यशसा वा वर्धयथ । च । अवधारणे, अवश्यम् । समुच्चये ॥

५—ईशानाः । ईश पेश्वर्ये-शानच् । ईश्वरीः, नियन्त्रीः । वार्याणाम् । ऋहलोर्णत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति वृङ् संभक्तौ-ण्यत् । अग्नीगर्गदयेषां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । वरणीयानां, धनानाम् । क्षयन्तीः । क्षि निवासे, पेश्वर्येच-लट्, शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । ईश्वरीः, स्वामिनीः । चर्षणीनाम् । कृपेरादेश्च चः । उ० २ । १०४ । इति कृप कर्पणे-अनि, चादेशः । आ-कर्पन्ति वशीकुर्वन्ति—इत्यर्थः । चर्पण्यः = मनुष्याः निघ० २ । ३ । पूर्ववत् कर्मणि षष्ठी । मनुष्याणाम् । अपः । अकथितं च । पा० १ । ४ । १०४ । इति अपादाने द्वितीया । जलधाराः । जलधारात्तकाशात् । जलवत् उपकारिभ्यो मनुष्येभ्यः । याचामि । याचृ याच्ञायाम्—लट् । द्विकर्मकः । अहं याचे, प्रार्थये । भेषजम् । १ । ४ । ४ । रोगनिवर्तकम्, औषधम् ॥

सूक्तम् ६ ॥

१-४ ॥ आपो देवताः । १-३ गायत्री, ४ पंक्तिः, ८ × ५ अक्षराणि ॥

आरोग्यतोपदेशः—आरोग्यता के लिये उपदेश ॥

शं नो देवीर्भिष्टुय आपो भवन्तु पीतये ।

शं योर्भि स्रवन्तु नः ॥ १ ॥

शम् । नः । देवीः । अभिष्टुये । आपः । भवन्तु । पीतये ।

शम् । योः । अभि । स्रवन्तुः । नः ॥ १ ॥

भावार्थ—(देवीः) दिव्य गुण वाले (आपः) जल [जल के समान उपकारी पुरुष] (नः) हमारे (अभिष्टुये) अभीष्ट सिद्धि के लिये और (पीतये) पान वा रक्षा के लिये (शम्) सुख दायक (भवन्तु) होंगे । और (नः) हमारे (शम्) रोग की शान्ति के लिये, और (योः) भय दूर करने के लिये (अभि) सब ओर से (स्रवन्तु) वर्षा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—वृष्टि से जल के समान उपकारी पुरुष सब के दुःख की निवृत्ति और सुख की प्रवृत्ति में प्रयत्न करते रहें ॥ १ ॥

१—शम् । १।३।१। सुखं, सुखकारिण्यः । देवीः । १।४।३। वा छन्दसि । पा० ६।१। १०६। इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । देव्यः । दिव्याः । अभिष्टुये । अभि + इष्ट् वाञ्छायाम्—क्तिन् । शक्रन्धादिषु पररूपं वक्तव्यम् । वा० पा० ६।१। ६४। इति पररूपम् । अभीष्टसिद्धये । आपः । १।४।३। जलानि, जलवद् गुणिनः पुरुषाः । पीतये । घुमास्थापाजहातिसां हलि । पा० ६।४। ६६। इति पा पाने-क्तिनि प्रत्यये ईत्वम् । यद्वा । पा रक्षणे, ओप्यायी, ष्यैड वृद्धौ वा-क्तिन्, क्तिच् वा । यथा । पः किञ्च । उ० १। ७१। इति पा-तु प्रत्ययः । पिबति पाति वा स पीतुः । कित्वात् ईकारः । पानाय, रक्षणाय, वृद्धये । शम् । १।३।१। रोगशमनाय । योः । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३।२। ७५ । इति शु मिश्रणामिश्रणयोः-चिच्, सकारश्छान्दसः यद्वा । शु—डोस् ।

मन्त्र १, य० ३६ । १२ । मन्त्र १—३ ऋ० म० १० सू० ६ म० ४, ६, ७ ।

तथा मन्त्र २, ३ ऋ० म० १ सू० २३ म० २०, २१ हैं ॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।

अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥ २ ॥

अप्—सु । मे । सोमः । अब्रवीत् । अन्तः । विश्वानि । भेषजा ।

अग्निम् । च । विश्व—शंभुवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमः) बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ने [चन्द्रमा वा सोम-
लता ने] (मे) मुझे (अप्सु अन्तः) व्यापन शील जलों में (विश्वानि) सब
(भेषजा=०-नि) औषधों को, (च) और (विश्वशम्भुवम्) संसार के सुखदायक
(अग्निम्) अग्नि [विजुली वा पाचनशक्ति] को बताया है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब विद्याओं का प्रकाशक है, चन्द्रमा औषधियों को
पुष्ट करता है, और सोमलता मुख्य औषधि है । यह सब पदार्थ जैसे जल द्वार
औषधों, अन्न आदि और शरीरों के बढ़ाने, विजुली और पाचन शक्ति पहुंचाने
और तेजस्वी करने में मुख्य कारण होते हैं वैसे ही मनुष्यों को परस्पर
सामर्थ्य बढ़ाकर उपकार करना चाहिये ॥ २ ॥

शंयोः.....शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्, इति निरु० । ४ । २१ । भय-
पृथक्कारणाय । अभि । सर्वतः । स्तवन्तु । स्रु प्रक्षवणे । वर्पन्तु ॥

२—अप्सु । १ । ४ । ३ । व्यापयितृषु, जलेषु जलवद् गुणिषु मनुष्येषु-
इत्यर्थः । सोमः । अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । इति पु प्रसवैश्वर्ययोः—मन् ।
स्रवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः । परमेश्वरः । चन्द्रमाः । सोमलता ।
अब्रवीत् । ब्रून् व्यक्तायां वाचि-लङ् । उपदिष्टवान् । अकथयत् । अन्तः ।
मध्ये । विश्वानि । सर्वाणि । भेषजा । १ । ४ । ४ । शेषद्वन्द्वसि बहुलम् ।
पा० ६ । १ । ७० । इति शैलोपः । भेषजानि । भयनिवारणानि । औषधानि ।
अग्निम् । अङ्गेर्नलोपश्च । उ० ४ । ५० । इति अग्नि गतौ-नि, नलोपः ।
तेजः । वैश्वानरं । वह्निम् । पाचनशक्तिम् । विश्व-शंभुवम् । क्विप् च ।
पा० ३ । २ । ७६ । इति विश्व+शम्+भू-क्विप्, उचङ्, आदेशः । विश्वस्य
जगतः सुखस्य भावयितारं कर्तारम्, सर्वसुखकरम् ॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे ३ मम ।

ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥

आपः । पृणीत । भेषजम् । वरूथम् । तन्वे । मम ।

ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे ॥ ३ ॥

भावार्थ—(आपः) हे व्यापन शील जलो [जल समान उपकारी पुरुषो] (मम) मेरे (तन्वे) शरीर के लिये (च) और (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) चलने वा चलाने वाले सूर्य को (दृशे) देखने के लिये (वरूथम्) कवचरूप (भेषजम्) भय निवारक औषध को (पृणीत) पूर्ण करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे शुद्ध में योद्धा की रक्षा भिलम से होती है वैसे ही जल समान उपकारी पुरुष परस्पर सहायक होकर सब का जीवन आनन्द से बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

शं न आपो धन्वन्या ३ शसु सन्त्वनुष्याः ।

शं नः खनित्रिमा आपः शसुयाः कुम्भामृताः

शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

शम् । नः । आपः । धन्वन्याः । शम् । जं इति । सन्तु ।

अनुष्याः । शम् । नः । खनित्रिमाः । आपः । शम् । जं इति ।

३-आपः । हे व्यापयितृणि जलानि [जल समानोपकारिणः पुरुषाः] ।

पृणीत । पृ पालनपूरणयोः-लोट् पालयत, पूरयत । भेषजम् । १ । ४ ।

४ । भयनिवारकम् । औषधम् । वरूथम् । ज्वृब्भ्यामूथन् । उ० २ । ६ । इति

वृष् धरणे—ऊथन्, ध्रियते शरीरमनेन । तनुव्राणम्, कवचम् । तन्वे ।

१ । १ । १ । तद्वत् पदसिद्धिः स्वरितश्च । तन्यते विस्तीर्यते तनूः । शरीराय ।

मम । मदीयाय । ज्योक् । ज्यो नियमे-डोकि । चिरकालम् । सूर्यम् ।

१ । ३ । ५ । जगतः प्रेरकम्, आदित्यम् । दृशे । दृशे विख्याते च । पा० ३ । ४ । ११ ।

इति दृशिर् प्रक्षणे-तुमर्थे कं प्रत्ययान्तो निपात्यते । द्रष्टुम् ॥

याः । कुम्भे । आ-भृताः । शिवाः । नः । सन्तु । वार्षिकीः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (धन्वन्याः) निर्जल देश के (आपः) जल (शम्) सुख दायक, (उ) और (अनूपाः) जल वाले देश के [जल] (शम्) सुखदायक (सन्तु) होवें । (नः) हमारे लिये (खनित्रिमाः) खनती या फावड़े से निकाले गये (आपः) जल (शम्) सुखदायक होवें, (उ) और (याः) जो (कुम्भे) घड़े में (आभृताः) लाये गये वह भी (शम्) सुख दायी होवें, (वार्षिकीः) वर्षा के जल (नः) हम को (शिवाः) सुखदायी (सन्तु) होवें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे जल सब स्थानों में उपकारी होता है वैसे ही जल समान उपकारी मनुष्यों को प्रत्येक कार्य और प्रत्येक स्थान में परस्पर लाभ पहुंचाकर सुखी होना चाहिये ॥ ४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

४--शस्—१।३।१ । सुखकारिण्यः । नः—अस्मभ्यम् । आपः—
अलानि, जलवद् गुणिनः पुरुषाः । धन्वन्याः—कनिन् युष्टिपितक्षिधन्वि-
राजिद्युप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । इति धवि गती-कनिन् । इदित्वात् नुम् ।
इति धन्वन् । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । तित् स्वरितम् । पा०
६ । १ । १८५ । इति स्वरितः । धन्वनि मरुभूमौ भवा आपः । ऊं इति । च ।
अनूपाः । अनुगता आपो यत्रेति अनूपो देशः । ऋक्पूरव्यूः० । पा० ५ । ४ ।
७४ । इति अनु + अप्—अकारः समासान्तः । उदनोर्देशे । पा० ६ । ३ । ६८ ।
इति अप् शब्दस्य अकारस्य ऊकारः । पूर्ववद् यत् प्रत्ययः स्वरितश्च । अनूपे
जलप्राये देशे भवा आपः । खनित्रिमाः । खनु अवदारणे-अस्माच्छान्दसः
क्ति प्रत्ययः । आर्धघातुफस्येड् वलाङ् । पा० ७ । २ । ३५ । इति इडागमः । क्त्रे
र्मन्मित्यम् । इति मप् क्षनित्रेण अखविशेषेण निर्वृत्ताः कृपाङ्गवाः । कुम्भे ।
कुं भूमिं उम्भति जलेन । उन्भ पूरणे-अच् । शकन्धादिवात्साधुः । घटे, कलशे ।
आ-भृताः । हन् हरणे-क । ह्यदोर्भः-इति भत्वम् । आहताः, आनीताः ।
शिवाः । सुखदाय्यः । वार्षिकीः । छन्दसि टञ् । पा० ४ । ३ । १६ । इति
वर्षा + टञ् । उर्षप् । जसि पूर्वसर्वणदीर्घः । वार्षिक्यः, वर्षास्तु भवाः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

~~~~~

सूक्तम् ७ ॥

१-७ ॥ इन्द्राग्नी देवते । १-४, ६, ७ अनुष्टुप् ८×४, ५ त्रिष्टुप् ११×४ अक्षराणि ॥

सेनापतिलक्षणानि—सेनापति के लक्षण ॥

स्तुवानमग्ने आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।

त्वं हि देव वन्दितो हुन्ता दस्योर्वभूविथ ॥ १ ॥

स्तुवानम् । अग्ने । आ । वह । यातु-धानम् । किमीदिनम् ।

त्वम् । हि । देव । वन्दितः । हुन्ता । दस्योः । वभूविथ ॥ १ ॥

भाषार्य—(अग्ने) हे अग्ने! [अग्नि समान प्रतापी] (स्तुवानम्) [तेरी] स्तुति करते हुये (यातुधानम्) पीड़ा देने हारे (किमीदिनम्) यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहने वाले तुम्हारे को (आवह) ले आ । (हि) क्योंकि (देव) हे राजन् (त्वम्) तू (वन्दितः) स्तुति को प्राप्न करके (दस्योः) चोर या डाकू का (हुन्ता) हनन कर्ता (वभूविथ) हुआ था ॥ १ ॥

१—स्तुवानम् । एञ् स्तुतौ—लटः शानच् । अचि श्नुधातुभ्रुवां० । पा० ६ । ४ । ७७ । इति उचङ् । त्वां प्रसशान्तं स्तुवन्तम् । अग्ने । १ । ६ । २ । अग्नि शब्दो यास्केन बहुविधं व्याख्यातः, निरु० ७ । १४ । हे वह्ने, हे पावक, हे अग्निवत् तेजस्विन् सेनापते ! आ-वह । आनय । यातु-धानम्—कृपा-पाजिनि० । उ० । १ । १ । इति यत् ताडने-उण् । यातुं पीड़ां दधाति ददाति । दुश्चाङ्धारणपोषणदानेषु—युच् । पीडाप्रदं राक्षसम् । किमीदिनम् । किम् + इदानीम् वा किम् + इदम्—इति । किमीदिने किमिदानीमिति चरते किमिदं

भावार्थ—जब अग्नि के समान तेजस्वी और यशस्वी राजा दुःखदायी लुतरो [ चुगल खोरो ] और डाकुओं और चोरों को आधीन करता है तो शत्रु लोग उस के बल और प्रताप की प्रशंसा करते हैं और राज्यमें शान्ति फैलती है ॥१॥

( किमीदिन् ) शब्द का अर्थ भगवान् यास्क ने अव क्वा हो रहा है वा यह क्वा यह क्वा हो रहा है ऐसा कहते हुये छली, सूचक वा चुगलखोर का किया है, निरु० ६।११ ॥

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् ।

अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् विलापय ॥ २ ॥

आज्यस्य । परमे-स्थिन् । जात-वेदः । तनू-वशिन् ।

अग्ने । तौलस्य । प्र । अशान् । यातु-धानान् । वि । लापय ॥ २ ॥

भाषार्थ—( परमेष्ठिन् ) हे बड़े ऊंचे पदवाले ! ( जातवेदः ) हे ज्ञान वा धन के देने वाले ! ( तनूवशिन् । ) शरीरों को वश में रखने हारे ! ( अग्ने ) अग्नि, राजन् ! तू ( तौलस्य ) तोल से पाये हुये ( आज्यस्य ) घृत का ( प्र-अशान् ) भोजन कर । और ( यातुधानान् ) दुखदायी राजसों से ( विलापय ) विलाप करा ॥ २ ॥

किमिदमिति वा पिशुनाय चरते-निरु० ६।११। इति यास्कवचनात् किमिदानीं वर्तते किमिदं वर्तते- इति एवमन्वेपमाणः किमिदी, पिशुनः । साधुजनवैरिणं, सदा विरुद्धबुद्धिं, पिशुनम् । हि । यस्मात् । अवश्यम् । देव । १।४।३। हे द्योतमान ! राजन् । वन्दितः । वदि स्तुत्यभिवादयोः—क्त । स्तुतः । नम-स्कृतः । हन्ता । हन—तृच् । हननकर्ता, घातयिता । दस्योः । यजिमनिशुन्धि-दसिजनिभ्यो युच् । उ० ३।२०। इति दसु उपक्षये—युच् । दस्यति परस्वान् नाशयतीति । चौरस्य । शत्रोः । बभूविथ । भू सत्तायां प्राप्तौ च—लिट् मध्य-मैकवचनम् । त्वं भवसि स्म ॥

२—आज्यस्य । आङ् + अञ्ज मिश्रणे गतौ-क्यप्, न लोपः । कर्मणि षष्ठी, आ आज्यते शरीरेण । आज्यं, घृतम् । परमे-स्थिन् । परमे कित् । उ० ४।१० । इति परमे + ष्टा गतिनिवृत्तौ-इति, स च कित् । हलन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् ।

भाषार्थ—जैसे अग्नि स्रुवादि के तौल व परिणाम से दिये हुये घृतादि हवन सामग्री को पाकर प्रज्वलित होता है वैसे ही प्रतापी राजा प्रजा का दिया हुआ कर लेकर दुष्टों को दण्ड देता है, उससे प्रजा सदा आनन्द युक्त रहती है २॥

वि लपन्तु यातुधानां अत्तित्रणो ये किंसीदिनः ।

अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥

वि । लपन्तु । यातु-धानाः । अत्तित्रणः । ये । किंसीदिनः । अथ ।  
इदम् । अग्ने । नः । हविः । इन्द्रः । च । प्रति । हर्यतम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (यातुधानाः) पीड़ा देने हारे, (अत्तित्रणः) पेट भरने वाले (किंसीदिनः) यह क्या यह क्या, ऐसा करने वाले लुतरे [हैं] [वे] (विलपन्तु)

पा० ६। ३। ६। इत्यलुक् । स्थास्थिन्स्पृशाम् । वा० पा० ८। ३। ६७। इति  
पत्वम् । परमे उत्तमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी । हे उच्चपदस्थ राजन् ।  
जात-वेदः । गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । उ० ४।  
२२७। इति जात+विद् ज्ञाने, वा विद्गुल्लामे-अगुन् । जातं प्रादुर्भूतं वेदो  
घानं धनं वा यस्मात् स जातवेदाः । जातवेदाः कस्माज् जातानि वेद जातानि  
घनं विदुर्जाते जाते विद्यन् इति वा जातचित्तो वा जातधनो जातविद्योवा जात-  
प्रज्ञानो वा-इति निरु० ७। १६। हे जातधन, हे जातप्रज्ञान । तनू-वशिन् ।  
घशोऽस्त्यस्य-इति । हे तनूनां अस्माकं शरीराणां वशयितः । अग्ने ।  
म० १। हे अग्निवन् तेजस्विन् । तौलस्य । तुल उन्माने- घञ् । तोल्यते  
उन्मीयते स्रुवादिना इति तोलम् । तोल-अण् । कर्मणि पठ्यो । तौलम् । तोलेन  
परिमाणेन कृतम् । प्र+अप्रशान् । अश भोजने-लोट् । हलः श्नः शानञ् भौ ।  
पा० ३। १। ८३। इति श्नाप्रत्ययस्य शानच् । हो परतः । अतो हेः । पा० ६।  
४। १०५। इति हेर्लुक् । त्वं भोजनं कुरु । भक्षय । यातु-धानान् ।  
मं० १। पीडाप्रदान् राक्षसान् । वि+लापय । हेतुमति च । पा० ३। १  
२६। इति वि चिकृतं । लप भाषे-णिच्-लोट् । विलापेन दुःख वचनेन युक्तान्  
कुरु ॥

३—विलपन्तु । लप कथने-लोट् । चिकृतं लपनं परिवेदमं कुर्वन्तु ।

विलाप करें । (अथ) और (अग्ने) हे अग्नि (च) और (इन्द्रः) हे वायु, तुम दोनों (इदम्) इस (हविः) होम समग्री को (प्रति हर्यतम्) अंगीकार करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि, वायु के साथ हवन सामग्री से प्रचंड होकर दुर्गन्धादि दोषों का नाश करती है वैसे ही अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महाप्रतापी राजा से दुःखदायी, स्वार्थी, बतवने लोग अपने किये का दंड पाकर विलाप करते हैं तब उसके राज्य में शान्ति होती है ॥ ३ ॥

अग्निः पूर्वं आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु ब्राहुमान् ।

ब्रवीतु सर्वो यातुमानमयस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥

अग्निः । पूर्वः । आ । रभताम् । प्र । इन्द्रः । नुदतु । ब्राहु-मान् ।  
ब्रवीतु । सर्वः । यातु-मान् । अयम् । अस्मि । इति । आ-इत्य ॥४॥

भाषार्थ—(पूर्वः) मुखिया (अग्निः) अग्नि रूप राजा (आरभताम्) [शत्रु-ओं] को पकड़ लेवे, (ब्राहुमान्) प्रबल भुजा वाला (इन्द्रः) वायु रूप सेनापति (अनुदतु) निकाल देवे । (सर्वः) एक एक (यातुमान्) दुःखदायी राजस (पत्य) आकर (अयम् अस्मि) यह मैं हूँ—(इति) ऐसा (ब्रवीतु) कहे ॥ ४ ॥

यातु-धानाः । म- १ । पीडाप्रदाः, राज्ञसाः । अत्तिव्रणः । अदेस्त्रिनिश्च ।  
उ० ४ । ६८ । इति अद भक्षणे-त्रिनि । अदनशीलाः, उदरपोषकाः । किमी-  
दिनः । म० १ । विरुद्धबुद्धयः, पिशुनाः । अथ । अनन्तरम् अपिच । इदम् ।  
प्रस्तुतमुपस्थितम् । अग्ने । म० १ । अग्निवत् तेजस्विन् राजन् । हविः । १ ।  
४ । ३ । दानम् । हव्यं द्रव्यम् । आह्वानम् । इन्द्रः । १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् ।  
वायुः । वायुवद् वेगवान् राजा । प्रति+हर्यतम् । हर्य गतिकान्त्योः-लोट् ।  
युवां कामयेथां, स्त्रीकुरुतम् ॥

४—अग्निः । म० १ । अग्निवत् तेजस्वी राजा । पूर्वः । पूर्व निमन्त्रणे  
निवासे वा-अच् । पुरोगामी, मुख्यः । आरभताम् । रभ रभस्ये=उपक्रमे ।  
आङ् पूर्वकात् रभ स्पर्शे—लोट् । स्पृशतु । निगृह्णातु । इन्द्रः । १ । २ । ३  
वायुः, वायुवद् वेगवान् राजा । प्र + नुदतु । शुद प्रेरणे तुदादित्वात् शः । प्रेरयतु ।

भावार्थ—जब अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महा प्रतापी राजा उपद्रवियों को पकड़ता और देश से निकालता है तब उपद्रवी लोग अपना अपना नाम लेकर उस राजा के शरणागत होते हैं ॥ ४ ॥

यश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान्  
नृचक्षः । त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात् त आयन्तु  
प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥५॥

पश्याम । ते । वीर्यम् । जात-वेदः । प्र । नः । ब्रूहि ।  
यातु-धानान् । नृ-चक्षुः । त्वया । सर्वे । परि-तप्ताः । पुरस्तात् ।  
ते । आ । यन्तु । प्र-ब्रुवाणाः । उपे । इदम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( जातवेदः ) हे ज्ञान देने वाले वा बहुत धन वाले राजा ! (ते) तेरे (वीर्यम्) पराक्रम को (पश्याम) हम देखें, (नृचक्षः) हे मनुष्यों के देखने वाले ! (नः) हमें (यातुधानान्) दुःख दायी राजाओं को (प्रब्रूहि) बतावे । (त्वया) तुझ से (परितप्ताः) जलाये हुये (सर्वे) वह सब (प्रब्रुवाणाः) जय बोलते हुये (पुरस्तात्) [तेरे] आगे (इदम्) इस स्थान में (उप आ यन्तु) चले आवें ॥ ५ ॥

अपसारयतु । बाहुमान् । तदरयास्त्यस्मिन्निति मतुप् । पा० ५ । २ । ६४ । भूम-  
निन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबा-  
दयः ॥ १ ॥ कारिका ॥ इति बाहुशब्दात् प्रशंसायां मतुप् । प्रबलभुजः । महा-  
वली । ब्रवीतु । ब्रूञ्-लोट् । कथयतु । सर्वः । निखिलः । यातु-मान् ।  
कृत्वा पा० ३० १ । १ । इति यत् ताडने-उण् । ततो मतुप् पूर्ववत् निन्दायाम् ।  
यातवो यातना विद्यन्तेऽस्मिन्स यातुमान् पीडावान्, महापीडाकारी ।  
अयम् । एतन्नामकोऽहम् । इति । एवम् । आ-इत्य् । समासेऽनञ्पूर्व-  
वत्त्यो ल्यप् । पा० ७ । १ । ३७ । इति आङ् + इण् गतौ-इति क्त्वाप्रत्ययस्य ल्यवा-  
देशः । ह्रस्वस्य पिति कृति० । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । आगत्य ॥

५—पश्याम । दृशिर् प्रेक्षणे-लोट् । पाष्ठाध्मास्था० । पा० ७ । ३ । ७८ ।  
इति शपि पश्यादेशः । अवलोकयाम । वीर्यम् । वीरस्य भावः, वीर-यत् ।

भाषार्थ—राजा को योग्य है कि अपने राज्य में विद्या प्रचार करे, सब प्रजा पर दृष्टि रखे और उपद्रवियों को अपने आधीन सर्वथा रखे कि वह लोग उसकी आज्ञा को सर्वदा मानते रहें ॥ ५ ॥

आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थीय जज्ञिषे ।

दुतो नो अग्ने भुत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥

आ । रभस्व । जात-वेदः । अस्माकम् । अर्थाय । जज्ञिषे । दुतः । नः । अग्ने । भुत्वा । यातु-धानान् । वि । लापय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञान वा धन देनेवाले राजन् ! (आरभन्) वैरियों को पकड़ ले, (अस्माक) हमारे (अर्थाय) प्रयोजन के लिये (जज्ञिषे) तू उत्पन्न हुआ है । (अग्ने) हे अग्ने [सेनापते] (नः) हमारा (दूतः) दूत (भुत्वा) होकर (यातुधानान्) दुःख दायियों से (विलापय) विलाप करा ॥६॥

यद्वा, वीरे साधु । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ६२ । इति यत् । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । १२५ । इति स्वरितः । पराक्रमम्, सामर्थ्यम् । जात-वेदः । म० २ । हे जातप्रज्ञान । नः । अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ इति । कर्मत्वम् । अस्मान् प्रति । प्र+ब्रूहि । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लोट्, द्विकर्मकः । प्रकथय । यातुधानान् । म० १ । पीडा प्रदान् राक्षसान् । नृचक्षः । चष्टिः पश्यति कर्मा । निघ० ३ । ११ । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि-असुन्, नृन् मनुष्यान् चष्टे पश्यतीति नृचक्षाः । हे मनुष्याणां द्रष्टः, अथवा उपदेशक । त्वया । अग्निना, अग्निवत् तेजस्विना । परि-तप्ताः । सम्यग् दग्धाः । पुरस्तात् । अग्रे । ते । प्रसिद्धाः । आ+यन्तु । छन्तु प्र-ब्रुवाणाः । ब्रूञ्-शानच् । प्रकथयन्तः, जयं प्रलपन्तः । ब्रूदम् । दृश्यमानं स्थानम् ॥

६—आ+रभस्व । म० ४ । आङ्+रभ स्पर्श-लोट् । निगृहाण । जात-वेदः । म० २ । जातप्रज्ञान । अस्माकम् । अन्त्यलोपशब्दान्दसः । अस्माकम् । अर्थाय । अर्थ याचने-वञ् । प्रयोजनाय, धनाय । जज्ञिषे । जनी प्रादुर्भावे लिट्, त्वं जातवानसि । दूतः । दुतनिभ्यां दीर्घश्चः । उ० ३ । ६० । इति दू

भावार्थ—( दूत ) का अर्थ शीघ्रगामी और सन्तापकारी है, जैसे दूत शीघ्र चल कर संदेश पहुंचाता है वैसे ही विजुली रूप अग्नि शरीरों में प्रविष्ट होकर वेग उत्पन्न करता है अथवा काष्ठ आदि को जलाता है, इसी प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी और प्रतापी राजा अपनी प्रजा की दशा को जान कर यथोचित न्याय करता और दुष्टों को दण्ड देता है ॥६॥

त्वमग्ने यातु धानानुपबद्धाँ इह वह ।

अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥ ७ ॥

त्वम् । अग्ने । यातु-धानान् । उप-बद्धान् । इह । आ । वह ।  
अथ । एषाम् । इन्द्रः । वज्रेण । अपि । शीर्षाणि । वृश्चतु ॥ ७ ॥

भावार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उप बद्धान्) दह बांधे हुये (यातु-धानान्) दुःखदायी राजाओं को (इह) यहां पर (आवह) लेआ । (अथ) और (इन्द्रः) वायु (वज्रेण) कुल्हाड़े से (एषाम्) इनके (शीर्षाणि) मस्तकों को (अपि) भी (वृश्चतु) काट डाले ॥७॥

भावार्थ—अग्नि के समान प्रतापी और (इन्द्र) वायु के समान वेगवान् राजा उत्पातियों को कारागार में डाल दे और उनके सिर उड़ा दे ॥

इसी प्रकार सब मनुष्य आध्यात्म विषय में आत्मा को सेनानी, और लोभ,

गतौ-क्त । यद्वा दुदु उपतापे-क्त दीर्घश्च । दवति गच्छति दुनेत्युपतापयतीति दूतः । घाताहरः, सन्देशहरः । संतापकः । अग्निः । अग्ने । अग्निवत् तेजस्विन् राजन् । यातु-धानान् । म० १ । पीडाप्रदान् । विलापय । म० २ । विलापयुक्तान् कुरु, रोदय ।

७—यातु-धानान् । म० १ पीडाप्रदान् । उप-बद्धान् । बन्ध बन्धने-क्त दहबन्धनयुक्तान् । इह । निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । अत्र । अथ । च । तदनन्तरम् । एषाम् । यातुधानानाम् । इन्द्रः । १ । २ । ३ । वायुः । वायुवद् वेगवान् । परमैश्वर्यवान् ॥ वज्रेण । ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० २ । २८ । इति वज्रगतौ-रन् । कुलिशेन, कुठारेण । अपि । एव, अवश्यम् । शीर्षाणि । शीर्षश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन्



मोह, आदि को शत्रु, और गृहस्थिति में गृहपति को सेनापति और विघ्नों को बैरी मान कर योग्य व्यवहार करें ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-४ ॥ अग्निः सोमश्च देवते । १-३ अनुष्टुप् ८×४, ४ त्रिष्टुप् ११×४ अक्षराणि ॥

सेनापतिलक्षणानि—सेनापति के लक्षण ॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।

य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

इदम् । हविः । यातु-धानान् । नदी । फेनम्-इव । आ ।

वहत् । यः । इदम् । स्त्री । पुमान् । अकः । इह । सः ।

स्तुवताम् । जनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (हविः) [हमारी] भक्ति (यातुधानान्) राजसों को (आवहत्) ले आवे, (इव) जैसे (नदी) नदी (फेनम्) फेन को । (यः) जिस किसी (पुमान्) मनुष्य ने अथवा (स्त्री) स्त्री ने (इदम्) इस [पापकर्म] को (अकः) किया है (सः जनः) वह पुरुष (स्तुवताम्) [तेरी] स्तुति करे ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजा की पुकार सुनकर जब राजा दुष्टोंको पकड़ता है, अपराधी स्त्री और पुरुष अपने अपराध को अंगीकार कर लेते और उस प्रतापी राजा की स्तुति करते हैं ॥१॥

आदेशः । शिरांसि, मस्तकानि । वृश्चतु । ओवञ्चू छेदने, तुदादित्वात् शः । छिनत्तु ॥

१—इदम् । प्रस्तुतं, क्रियमाणम् । हविः । १ । ४ । ३ । दानम् । भक्तिः । आवहनम् । यातु-धानान् । १ । ७ । १ । पीडाप्रदान् राजसान् । नदी । मन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति णद् ध्वनौ-पचाद्यच् । गणे नदद् इति पाठात् टित्त्वात्-ङीप् । नदति प्रवाहवेगेन शब्दायत इति । नद्यः

(स्त्री) शब्द का अर्थ संग्रह करने वाली वा स्तुति योग्य, और [ पुमान् ] का अर्थ रक्षक वा पुरुषार्थी है ।

अयं स्तुवान् आगमदिमं स्म प्रति हर्यत ।

वृहस्पते वशं लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥ २ ॥

अयम् । स्तुवानः । आ । अगमत् । इमम् । स्म । प्रति । हर्यत ।

वृहस्पते । वशं । लब्ध्वा । अग्नीषोमा । वि । विध्यतम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [शत्रु] (स्तुवानः) स्तुति करता हुआ (आ-अगमत्) आया है, (इमम्) इसका (स्म) अवश्य (प्रति हर्यत) तुम सब स्वागत करो । (वृहस्पते) हे बड़े बड़ों के रक्षक राजन् ! [दूसरे वैरी को] (वशे) वश में (लब्ध्वा) लाकर [वर्त्तमान हो], (अग्नीषोमा=०-मौ) हे अग्नि और चन्द्रमा ! तुम दोनों [अन्य वैरियों को] (वि) अनेक भांति से (विध्यतम्) ताड़ो ॥ २ ॥

कस्मात् नदना भवन्ति शब्दवत्यः—निरु० २ । २४ । नदन्शीला, सरित्, तरङ्गिणी । फेनम् । फेनमीनौ । उ० ३ । ३ । इति स्फायी वृद्धौ-नक्, फेशब्दादेशः । स्फायते वर्धते स फेनः । द्विण्डीरम्, समुद्रफेनम् । आ+वहत् । वह प्रापणे-लोट् । आनयेत् । स्त्री । स्तायतेर्ङ् । उ० ४ । १६६ । इति स्त्यू संहतौ, ध्वनौ-ङ्, ङीप् । स्त्यायति शब्दयति गृह्णाति वा गुणान् सा । यद्वा, ष्टुञ् स्तुतौ-ङ्, ङीप् । स्तौति गुणान् वा स्तूयते सा स्त्री । नारी । पुमान् । पातेर्ङुमसुन् । उ० ४ । १७८ इति पा रक्षणे डुमसुन् । डित्वात् टिलोपः । पातीति पुमान् मनुष्यः, पुरुषः । अकः । डुकृञ् करणे-लुङ् । हल्ङ्याच्भ्यो दीर्घात्० । पा० ६ । १ । ६८ । इति ति इत्यस्य इकार लोपे तलोपः । अकार्षात् । स्तुवताम् । ष्टुञ् स्तुतौ-लोट् । छन्दसि शः । स्तुतिं करोतु । जनः । जनी प्रादुर्भावे, वा जन जनने-अच् । जायते जनयति वा स जनः । लोकः ॥

२—अयम् । शत्रुः । स्तुवानः । ष्टुञ् स्तुतौ—शानच् । युष्मान् स्तुवन् । आ+अगमत् । गम्ल गतौ—लुङ् । आगतवान् । इमम् । शत्रुम् । स्म । अवश्यम् । प्रीत्या । प्रति+हर्यत । हर्य गतिकान्त्योः-लोट् । यूयं प्रतिकाम-ध्वम्, स्वकीयत्वेन परिगृह्णीत । वृहस्पते । तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः

भावार्थ—जो शत्रु राजा को प्रभुन्य मानकर शरणागत हो, राजा और कर्मचारी उसका स्वागत करें। प्रतापी राजा दूसरे बैरी को शमदम आदि से अपने आधीन रखे। और अन्य बैरियों को (अग्नीषोमा) बँड देने में अग्नि सा प्रचंड और न्याय करने में (सोम) चन्द्रमा सा शान्त स्वभाव रहे ॥२॥

यातुधानस्य सोमप जुहि प्रजा नयस्व च ।

नि स्तुवानस्य पातय परमक्षुतावरम् ॥ ३ ॥

यातु-धानस्य । सोम-प । जुहि । प्र-जाम् । नयस्व । च ।

निः । स्तुवानस्य । पातय । परम् । अक्षि । उत । अवरम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमप) हे अमृत पीने हारे [राजन्] तू (यातुधानस्य) पीड़ा देने हारे पुरुष के (प्रजाम्) मनुष्यों को (जुहि) मार, (च) और (नयस्व) लेखा । (निस्तुवानस्य) अपस्तुति [निन्दा] करते हुये [शत्रु की] (परम्) उत्तम् [हृदय]

सुट् तलोपश्च । वार्तिकम्, पा० ६ । १ । १५७ । इति घृहत् + पतिः, सुट् आगमः, तकारलोपश्च । हे घृहतां महतां विदुषां पालयितः, विद्वन् राजन् ! । वशे । वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वा० । पा० ३ । ३ । ५८ । इति वश स्पृहायां—अप् । अधीनत्वे, आयत्ततायाम् । लब्ध्वा । लभ प्राप्तौ—क्त्वा । आनीय । प्राप्य [अन्य शत्रुं तिष्ठ, इति शेषः] । अग्नीषोमा । अग्निश्च सोमश्चेति द्वन्द्वे । ईदग्नेः सोमवरुणयोः । पा० ६ । ३ । २७ । इति ईत्त्वम् । अग्नेः स्तुतस्तोमसोमाः । पा० ८ । ३ । ८२ । इति पत्वम् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति पूर्वसर्वण-दीर्घः । अर्त्तिस्तुसुदुखधृत्ति० । उ० १ । १४० । इति पु पेश्वर्यप्रसवयोः—मन् । सवति पेश्वर्यहेतु भवतीति, यद्वा सवति सौति अमृतमुत्पादयतीति सोमः । वायुः । चन्द्रः । बलवर्धकौपधविशेषः । अमृतम् । अग्निः । अग्निवत् तेजः । वायुः, वायुवद् वेगः, अथवा चन्द्रवत् प्रजायै शान्तिप्रदगुणः । अनेन सेनापति-गुणद्वयवर्णनम् । वि । विविधम् । विध्यतम् । व्यधताङ्गे—लोट । युवां ताडय-तम् अन्यं पापात्मानम् ॥

३—यातु-धानस्य । १ । ७ । १ । पीडाप्रदस्य । सोम-प । आतोऽनुपस-गे कः । पा० २ । २ । ३ । इति सोम + पा पाने-क । हे अमृतस्य पातः ! जुहि ।

की] (उत) और (अवरम्) नीची [शिर की] (अक्षि) आंख को (पातय) निका-  
लदे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमप) अमृत पीने हारा अर्थात् शान्त स्वभाव यशस्वी  
राजा दुष्टों का नाश करे और पकड़ लावे। निन्दा फैलाने हारे मिथ्याचारी  
शत्रु को नष्ट भ्रष्ट करदे कि वह पापी अपने मन के भीतरी कुविचार और  
बाहिरी कुचेष्टा और पाप कर्म छोड़दे ॥ ३ ॥

यत्रै'पामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सुतामग्निं  
जातवेदः । तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जुह्ये पां  
शतुतर्ह'सग्ने ॥ ४ ॥

यत्रै । एषाम् । अग्ने । जनिमानि । वेत्थ । गुहा । सुताम् ।  
अग्निं । जात-वेदः । तान् । त्वम् । ब्रह्मणा । ववृधानः ।  
जुहि । एषाम् । शतु-तर्हम् । अग्ने ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे अनेक विद्या वाले वा धन वाले ! (अग्ने) अग्नि  
[अग्निस्वरूप राजन्] (यत्र) जहां पर (गुहा) गुफा में (सताम्) वर्तमान  
(एषाम्) इन (अग्निणाम्) उदर पोषकों के (जन्मानि) जन्मों को (वेत्थ) तू जानता

हृन् हिंसागत्योः—लोष्ट् । नाशय । प्र-जाम् । जनम् । मनुष्यान् । नयस्व ।  
आनय । निः । क्षेपेण, अपवादेन । निषेधेन । स्तुवानस्य । म० २ । स्तुषतः  
शत्रोः । पातय । पत अधोगतौ—णिच् लोट् । अधोगमय, च्यावय । परस् ।  
अदोऽगम् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति षृ-पालने पूर्वो न—अप् । श्लेष्ठम् । उच्चम् ।  
अक्षि । अग्नेर्नित् । उ० ३ । १५६ । इति अशु व्याप्तौ—क्विप् । यद्वा । अक्षू व्याप्तौ—  
इत् । चक्षुः, नेत्रम् । अवरम् । अहिबृहनिश्चिगमश्च । पा० ३ । ३ । ५८ ।  
इति न+वृम् धरणे—अप् । न ध्रियत इति । निकृष्टम्, नीचम् ॥

४-अग्ने । अग्निवत् तेजस्यन् राजन् । जनिमानि । जनिमृड्यामिमनिन् ।  
उ० ४ । १४६ । इति जनी प्रादुर्भावे—इमनिन् । जन्मानि, उत्पत्तिकारणानि ।

है । (अग्ने) हे अग्निरूप राजन् ! (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान [वा अन्न वा धन]से (वावृ-  
धानः) बढ़ता हुआ (त्वम्) तू (तान्) उनकी और (एषाम्) इनकी (शत-  
तर्हम्) सैकड़ों प्रकार की हिंसा को (जहि) नाश कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—अग्नि के समान तेजस्वी महावली राजा गुप्त उपद्रवियों का  
खोज करे और उनको यथा नीति कड़े कड़े दण्ड देकर प्रजामें शान्ति रखे ॥४॥

सूक्तम् टं ॥

१-४ ॥ १, २ विश्वे देवा देवताः, ३, ४ अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्  
छन्दः ११×४ अक्षराणि ॥

सर्वसम्पत्तिप्रयत्नोपदेशः— सद्यः सम्पत्तियों के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तिवन्द्रः पूषा वरुणो  
मित्रो अग्निः । इममादित्या उत विश्वे च देवा  
उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥

अस्मिन् । वसु । वसवः । धारयन्तु । इन्द्रः । पूषा । वरुणः ।  
मित्रः । अग्निः । इमम् । आदित्याः । उत । विश्वे । च । देवाः ।  
उत्तरस्मिन् । ज्योतिषि । धारयन्तु ॥ १ ॥

वेत्थ । विद ज्ञाने-लट् । त्वं जानासि । गुहा । इगुपधक्षाप्रीकिरः कः । पा० ३ ।  
१ । १३५ । इति गुह्य संवरणे-क, टाप् च । गूहति रक्षतीति । सुपां सुलुक्० । पा०  
७ । १ । ३६ । इति विभक्तिलोपः । गुहायाम्, गच्छे, गह्वरे, गुप्तस्थाने । सताम् ।  
अस सत्तायां-शतृ । विद्यमानानाम् । निवसताम् । अत्रिणाम् । १ । ७ । ३ ।  
अदनशीलानां, उदरपोषकाणाम् । जात-वेदः । १ । ७ । २ । हे जातविद्यु !  
ब्रह्मणा । वृहेर्नोऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति वृद्धि वृद्धौ-मनिन्, नकारस्य  
अकारः, रत्वं च । ब्रह्म अन्नम्-निघ० २ । ७ । तथा, धनम्-निघ० २ । १० ।  
वेदेन । वेदज्ञानेन । परमेश्वरेण । ववृधानः । वृधु वृद्धौ-लिट्ः कानच्,  
छन्दसि दीर्घः । प्रवृद्धः । जहि । म० ३ । मारय । शत- तर्हम् । शतं बहु-  
नाम—निघ० ३ । १ । तृह हिंसायाम्-घञ् । बहुविधहिंसनम् ॥

**भाषार्थ—**( वसवः ) प्राणिनों के बसानेवाले वा प्रकाशमान, श्रेष्ठ देवता [अर्थात्] ( इन्द्रः ) परमेश्वर वा सूर्य, ( पूषा ) पुष्टि करने वाली पृथिवी, ( वरुणः ) मेघ, ( मित्रः ) वायु, और ( अग्निः ) आग, ( अस्मिन् ) इस पुरुष में [ मुझ में ] ( वसु ) धनको ( धारयन्तु ) धारण करें । ( आदित्याः ) प्रकाश-वाले [ बड़े विद्वान् शूरवीर पुरुष ] ( उत च ) और भी ( विश्वे ) सब ( देवाः ) व्यवहार जाननेहारे माहात्मा ( इमम् ) इसको [ मुझको ] ( उत्तरस्मिन् ) अति उत्तम ( ज्योतिषि ) ज्योति में ( धारयन्तु ) स्थापित करें ॥ १ ॥

**भावार्थ—**चतुर पुरुषार्थी मनुष्य के लिये परमेश्वर और संसार के सब पदार्थ उपकारी होते हैं । अथवा जो सूर्य, भूमि, मेघ, वायु, और अग्नि के

१—अस्मिन् । उपासके, मयि, इत्यर्थः । म० ४ । वसु । शृस्वृ स्निहि-  
त्रप्यसि० । उ० १ । १० । इति वस आच्छादने, निवासे दीप्तौ च-उप्रत्ययः ।  
निवासयितृ प्रकाशमानं वा धनम् । वसवः । पूर्ववत्, वस-उ । श्वसोवसीय-  
श्रेयसः । पा० ५ । ४ । ८० । अत्र वसुशब्दः प्रशस्तवाची । प्राणिनां वासयितारः,  
प्रकाशमानाः । प्रशस्ता देवाः, इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः । धारयन्तु । धृञ् धारणे-  
चुरादिः । स्थापयन्तु । इन्द्रः । १ । २ । ३ । परमेश्वरः । सूर्यः । पूषा ।  
श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति पुष पुष्टौ, पूष वृद्धौ—कनिन् प्रत्ययान्तो  
निपात्यते । पुष्यति पूषति वा वर्धते धान्यादिभिः, पोषयति वान्नैः प्रजाः । पृथि-  
वीनाम-निघ० १ । १ । वरुणः । १ । ३ । ३ । वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः ।  
वृष्टिजलम् । मेघः । मित्रः । १ । ३ । २ । डुमिञ् प्रक्षेपणे-क्त् । वायुः ।  
अहरमिमानी देवः—इतिसायणः । अग्निः । १ । ६ । २ । और्वजाठरवैद्युतादि-  
रूपः प्रकाशः ।, वह्निः । इमम् । उपासकम्, आदित्याः । अघ्न्यादयश्च ।  
उ० ४ । ११२ । इति आङ् + डुदाञ् दाने, वा दीप्ती दीप्तौ-यक् । निपातितः ।  
यद्वा । दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः । पा० ४ । १ । ८५ । इति अदिति-एय-  
प्रत्ययः, अपत्याथे । अदितिः = पृथिवी—निघ० १ । १ । वाक्—निघ० १ । ११ ।  
अदितिरदीना देवमाता—निरु० ४ । २२ । अथास्य [आदित्यस्य] कर्म रसादानं  
रश्मिभिश्च रसधारणं यच्च किञ्चित् प्रबलहितमादित्यकमैव तच्चन्द्रमसा  
वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः । निरु० ७ । ११ । आदातारः, ग्रहीतारो गुणा-  
नाम् । प्रकाशमानाः । भूमिपुत्राः, देशहितैषिणः । सरस्वतीपुत्राः, विद्वांसः । सूर्य-

समान उत्तम गुण वाले और दूसरे शूर वीर विद्वान् लोग ( आदित्याः ) जो विद्या के लिये और धरती अर्थात् सब जीवों के लिये पुत्र समान सेवा करते हैं, और जो सूर्य के समान उत्तम गुणों से प्रकाशमान हैं, वे सब नरभूषण पुरुषार्थी मनुष्य के सदा सहायक और शुभचिन्तक रहते हैं ॥ १ ॥

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा  
हिरण्यम् । सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि  
रोहये मम् ॥ २ ॥

अस्य । देवाः । प्र-दिशि । ज्योतिः । अस्तु । सूर्यः । अग्निः ।  
उत । वा । हिरण्यम् । स-पत्नाः । अस्मत् । अधरे । भवन्तु ।  
उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । मम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( देवाः ) हे व्यवहार जाननेहारे महात्माओ ! ( अस्य ) इसके [ मेरे ] ( प्रदिशि ) शासन में ( ज्योतिः ) तेज, [ अर्थात् ] ( सूर्यः ) सूर्य, ( अग्निः ) अग्नि, ( उत वा ) और भी ( हिरण्यम् ) सुवर्ण ( अस्तु ) होवे । ( सपत्नाः ) सब वैरी ( अस्मत् ) हम से ( अधरे ) नीचे ( भवन्तु ) रहें । ( उत्तमम् ) अति ऊँचे ( नाकम् ) सुख में ( एनम् ) इसको [ मुझ को ] ( अधि ) ऊपर ( रोहय=०-यत ) तुम चढ़ाओ ॥ २ ॥

वत् तेजस्विनः । देवाः । १ । ४ । ३ । दिव्य व्यवहारे-अच् । व्यवहारिणः । प्रकाशमानाः । उत्-तरस्मिन् । उत्कृष्टे । ज्योतिषि । द्युतेरिसिन्नादेश्च जः । उ० २ । ११० । इति द्युत दीप्तौ-इसिन्, दस्य जः । तेजसि, प्रकाशे । धारयन्तु । स्थापयन्तु ॥

२—अस्य । उपासकस्य । देवाः । म० १ । हे प्रकाशमया व्यवहारिणो वा । प्रदिशि । सम्पदादिभ्यः क्तिप् । वा० पा० ३ । ३ । ६४ । प्रपूर्वात् दिश दाने, आक्षापने—क्तिप् । प्रदेशने, शासने, आक्षायाम् । ज्योतिः । म० १ । तेजः, प्रकाशः । सूर्यः । १ । ३ । ५ । सरणशीलः, प्रेरकः । ग्रहविशेषः । अग्निः ।

भावार्थ—प्रकाश वाले, सूर्य, अग्नि की और सुवर्ण आदि की विधायें, अथवा सूर्य, अग्नि और सुवर्ण के समान प्रकाश वाले लोग, पुरुषार्थी मनुष्य के अधिकार में रहें और वह यथायोग्य शासन करके सर्वोत्तम सुख भोगे ॥ २ ॥

येनेन्द्राय सुमभरुः पर्यास्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।  
तेन त्वमग्निं इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्यं आ  
धेह्येनम् ॥ ३ ॥

येन । इन्द्राय । सुम्-अभरुः । पर्यासि । उत्-तमेन । ब्रह्मणा ।  
जात-वेदः । तेन । त्वम् । अग्निं । इह । वर्धयि । इमम् ।  
स-जातानां । श्रैष्ठ्यं । आ । धेहि । एनम् ॥ ३ ॥

म० १ । दावानलजाठरचैद्युतादिरूपः पावकः । हिरण्यम् । हर्यतिः कान्ति-  
कर्मा-निघ० २ । ६ । हर्यतेः कन्यन् हिर च । उ० ४ । ४४ । इति हर्य गतिकान्त्योः-  
कन्यन् । हिरादेशः । हर्यते काम्यते तत् । यद्वा, हृज् हरणे-कन्यन् हिर च । हिर्यते  
जनाञ्जनं व्यवहारार्थम्, अथवा द्रव्यस्वभावत्वात् नैकत्रास्य स्थितिः । हिरण्य-  
नामसु-निघ० १ । २ । हर्यतेः प्रेप्साकर्मणः—निरु० २ । १० । सुवर्णम् । तेजः ।  
स-पत्नाः । सह+पत् पतने ऐश्ये च-न प्रत्ययः, सहस्य सः । सह पतन्ति  
यतन्ते एकार्थे, यद्वा, सह पत्यन्ते ईश्वरा भवन्ति । सह पतित्ववन्तः । शत्रवः ।  
अधरे । न+धृज्-अच्, नज्-समासः, न ध्रियतेऽसौ । नीचाः, हीनाः, अप-  
कृष्टाः । उत्-तमम् । उत्+तमप्, अतिशयेन उत्कृष्टम् । यद्वा, उत्+तमु  
इच्छायाम्-अच् । भद्रम्, उत्कृष्टम् । नाकम् । कं सुखम् अकं दुःखम्,  
तन्नास्त्यत्रेति नाकः । नभ्राण् नपान्नवेदानासत्या० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति  
नजः प्रकृतिमात्रः । अथवा पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । इति शी प्रापणे-आक्-  
प्रत्ययः, टिलोपः । नाक आदित्यो भवति नेता भासां ज्योतिषां प्रणयोऽथ द्यौः  
कमिति सुव्रनाम तत्प्रतिपिद्धं प्रतिपिध्यते—निरु० २ । १४ । स्वर्गम् । सुखम् ।  
आकाशम् । आदित्यलोकम् । अधि । उपरि । रोहय । रुह जन्मनि, प्राहु-  
र्भावे-णिच्-लोट् । एक वचनं बहुवचनं । उन्नयत यूयम् । इमम् । उपासकम् ॥



**भाषार्थ—**(जातवेदः) हे विद्वानयुक्त, परमेश्वर ! तूने (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) जिस उत्तम वेद विज्ञान से (इन्द्राय) पुरुषार्थी जीव के लिये (पयांसि) दुग्धादि रसों को (समभरः) भरकर रक्ता है । (तेन) उसी से (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (त्वम्) तू (इह) यहां पर (इमम्) इसे (मुझे) (वर्धय) वृद्धि युक्त कर, (सजातानाम्) तुल्य जन्म वाले पुरुषों में (श्रैष्ठ्ये) श्रेष्ठ पद पर (एनम्) इसको [मुझ को] (आ) यथा विधि (धेहि) स्थापित कर ॥ ३ ॥

**भावार्थ—**परमेश्वर पुरुषार्थियों को सदा पुष्ट और आनन्दित करता है । मनुष्य को प्रयत्न करके अपनी श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा बढ़ानी चाहिये ॥३॥ (अग्नि) शब्द ईश्वरवाची है. इस में यह प्रमाण है—मनु १२ । १२३ ।

एतमेके वदन्त्यग्निसनुमन्ये प्रजापतिम्

इन्द्रमेके उपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १ ॥

इसको कोई अग्नि, दूसरे मनु, और प्रजापति, कोई इन्द्र, दूसरे प्राण और नित्य ब्रह्म कहते हैं ॥

३—येन । ब्रह्मणा । इन्द्राय । १ । २ । ३ । जीवाय, पुरुषार्थिने जीवाय । सम—अभरः । दुभृञ् भरणे, पोषणे—लङि सिप् । सम्यग् भृतवानसि पोषितवानसि । पयांसि । १ । ४ । १ । दुग्धानि, दुग्धघृतादिपदार्थान् । उत्—तमेन । म० २ । अतिश्रेष्ठेन । ब्रह्मणा । १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । जात-वेदः । १ । ७ । २ । हे जातप्रज्ञान, परमेश्वर । तेन । ब्रह्मणा । अग्ने । हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर । इह । । अत्र, अस्मिन् जन्मनि । वर्धय । वृधु-णिच् । समर्धय । इमम् । उपासकं, माम् । स-जातानाम् । समान + जनी प्रादुर्भावे—क्त । जन-सनसनां सन्भूतोः । पा० ६ । ४ । ४२ । इति आत्वम् । समानस्य इन्द्रस्य मूर्ध० । पा० ६ । ३ । ८४ । इति समासे समानस्य सभावः । समानजन्मनां स्वकुटुम्बिनां मध्ये । श्रैष्ठ्ये । गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । पा० ५ । १ । १२४ । इति श्रेष्ठ-थञ् । श्रेष्ठत्वे, प्रधानत्वे । आ । समन्तात्—यथाविधि । धेहि । दुधाञ् धारणपोषणयोः—लोट् । धारय, स्थापय । एनम् । उपास-कम् ॥

ऐषां' यज्ञमुत वर्चो' ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्ता-  
न्यग्ने । सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि  
रोहयेमम् ॥ ४ ॥

आ । एषाम् । यज्ञम् । उत । वर्चः । ददे । अहम् । रायः ।  
पोषम् । उत । चित्तानि । अग्ने । स-पत्नाः । अस्मत् । अधरे ।  
भवन्तु । उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे परमेश्वर ! (एषाम्) इन के [अपने लोगों] के दिये  
(यज्ञम्) सत्कार, (उत) और (वर्चः) तेज, (रायः) धन की (पोषम्) बढ़ती  
(उत) और (चित्तानि) मानसिक बलों को (अहम्) मैं (आददे) ग्रहण करता  
हूँ । (सपत्नाः) वैरी लोग (अस्मत्) हम से (अधरे) नीचे (भवन्तु) होवें, (उत्त-  
मम्) अति ऊँचे (नाकम्) सुख में (एनम्) इसको [मुझे] (अधि) ऊपर  
(रोहय) चढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् नीति निपुण पुरुष अपने पक्षवालों के किये हुये  
उपकार, और सत्कार को सधन्यवाद स्वीकार करे और विपक्षियों को नीचा  
दिखा कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध मन्त्र २ का उत्तरार्ध है ॥

४—एषाम् । स्वपुरुषाणाम् । यज्ञम् । यजयाचयतविच्छ्रप्रच्छरत्तो नङ् । पा०  
३ । ३ । ६० । इति यज देवार्चादानसङ्गतिकरणेषु-नङ् । पूजाम्, कीर्तिम् ।  
वर्चः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति वर्च दीप्तौ—असुन् । निश्चिात्  
आद्युदात्तः । वर्चः, अन्ननाम-निघ० २ । ७ । रूपम् । तेजः । आ—ददे । आङ्  
पूर्वात् डुदाञ् ग्रहणे-लट् । अहं गृह्णामि, स्वीकरोमि । रायः । रातेडैः ।  
उ० २ । ६६ । इति रा दाने डै प्रत्ययः, रै । धनस्य । पोषम् । पुष पुष्टौ—घञ् ।  
पोषणं वर्धनं समृद्धिम् । रायस्पोषम् । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ ।  
इति विसर्गस्य सः । चित्तानि । चित्त ज्ञाने—क । मनांसि, नामसवलानि । अग्ने  
म० ३ । हे परमेश्वर । सपत्ना.....इमम् । व्याख्यातम् २ ॥

सूक्तम् ॥ १० ॥

१—४ ॥ वरुणो देवता । १, २ त्रिष्टुप् ३, ४ अनुष्टुप् ।

वरुणस्य क्रोधः प्रचण्डः—वरुण का क्रोध प्रचण्ड है ॥

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या  
वरुणस्य राज्ञः । तत्परि ब्रह्मणा शाशदान  
उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥

अयम् । देवानाम् । असुरः । वि । राजति । वशा । हि ।  
सत्या । वरुणस्य । राज्ञः । ततः । परि । ब्रह्मणा । शाशदानः ।  
उग्रस्य । मन्योः । उत् । इमम् । नयामि ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देवानाम्) विजयी महात्माओं का (असुरः) प्रा-  
णदाता [वा प्रज्ञावान् वा प्राणवान्] परमेश्वर (विराजति) बड़ा राजा है, (वरुणस्य)  
वरुण अर्थात् अति श्रेष्ठ (राज्ञः) राजा परमेश्वर की (वशा) इच्छा (सत्या)  
सत्य ( हि ) ही है । (ततः) इस लिये ( ब्रह्मणा ) वेद ज्ञान से ( परि ) सर्वथा  
(शाशदानः) तीक्ष्ण होता हुआ मैं (उग्रस्य) प्रचंड परमेश्वर के (मन्योः) क्रोधसे  
(इमम्) इस को [अपने को] (उत् नयामि) छुड़ाता हूँ ॥ १ ॥

१—अयम् । पुरोवर्ती । देवानाम् । १ । ४ । ३ । दिव्यगुणवतां विदुषाम् ।  
असुरः । असेरुम् । उ० १ । ४२ । इति असु क्षेपे-उरन् । जित्वादिर्नित्यम् ।  
पा० ६ । १ । १६७ । इति नित्वाद् आद्युदात्तः ॥ अस्यति शत्रून् । यद्वा, अस गति-  
दीप्त्यादानेषु-उरन् । असति गच्छति व्याप्नोति सर्वत्र, दीप्यते स्वयम् । आदत्ते  
वा साधून् । यद्वा । असुं प्राणं राति ददातीति, असु + रा दानादानयोः-क ।  
मेघनाम-निघ० १ । १० । असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापिवासु रिति प्रज्ञानामा-  
स्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था वसुरत्वमादिलुप्तम्-निरु० १० । ३४ । क्षेप्ता । शूरः ।  
व्यापकः । दीप्यामानः । ग्रहीता । प्राणदाता । प्रज्ञावान् । यद्वा, मेघवद् उदारः ।  
वरुणविशेषणमेतत् । वि । विशेषेण । राजति । राजृ दीप्तौ । दीप्यते, ईष्टे  
ईश्वरी भवति-निघ० २ । २१ । वशा । वशस्पृहि-अप्, टाप् । इच्छा, स्पृहा ।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के क्रोध से डर कर मनुष्य पाप न करें और सदा उसे प्रसन्न रखें ॥ १ ॥

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्यग्र  
निचिकेषि द्रुग्धम् । सहस्रमन्यान् प्रसुवामि साकं  
शतं जीवाति शरदुस्तवायम् ॥ २ ॥

नमः । ते । राजन् । वरुण । अस्तु । मन्यवे । विश्वम् । हि ।  
उग्र । नि-चिकेषि । द्रुग्धम् । सहस्रम् । अन्यान् । प्र । सुवामि ।  
साकम् । शतम् । जीवाति । शरदः । तव । अयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( वरुण ) हे अतिश्रेष्ठ ( राजन् ) बड़े ऐश्वर्य वाले, राजा,  
( ते ) तुम्हें ( मन्यवे ) क्रोधरूप को ( नमः ) नमस्कार ( अस्तु ) होवे, ( उग्र )  
हे प्रचंड ! तू ( विश्वम् ) सब ( हि ) ही ( द्रुग्धम् ) द्रोह को ( नि-चिकेषि )  
सदा जानता है । [मैं] ( सहस्रम् ) सहस्र ( अन्यान् ) दूसरे जीवों को ( साकम् )

हि । अवश्यम् । यस्मात् । सत्या । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ इति  
सन् + यत् । टाप् । सद्ग्रथो हिता, अचितथा । वरुणस्य । १ । ३ । ३ । त्रियते  
स्वीक्रियते स वरुणः । अतिश्रेष्ठस्य । परमेश्वरस्य । राज्ञः । राजति,  
ऐश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ । कनिन् युवृषितक्षिराजि० । उ० १ । १५६ । इति  
राजृ दीप्तौ-ऐश्वर्ये च-कनिन् । स्वामिनः, अधिपतेः, ईश्वरस्य । ब्रह्मणा ।  
१ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । शाशदानः । शद्लु शातने यङ्लुगन्ताद् छन्दसि  
शानच् । शाशद्यमानः—निरु० ६ । १६ । अत्यर्थं तीक्ष्णः । विजयी । उग्रस्य ।  
ऋजुन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति उच्च समवाये-रक् । उच्यति क्रुधा सम्बध्यते ।  
उत्कटस्य, प्रचण्डस्य । मन्योः । यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ०  
३ । २० । इति मन ज्ञाने गर्वे, धृती च-भावे कर्तरि वा-युच् । मन्युर्मन्यतेर्दीप्ति-  
कर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा-निरु० १० । २६ । क्रोधात् । उत् + नयामि ।  
उपसर्गस्य व्यवधानम् । ऊर्ध्वं गमयामि, मोचयामीत्यर्थः ॥

२— राजन् । म० १ । हे ऐश्वर्यवान् । वरुण । म० १ । हे परमेश्वर ।  
मन्यवे । म० १ । क्रोधाय, क्रोधरूपाय । नि-चिकेषि । कि ज्ञाने—तद्,

एक साथ ( प्रसुवामि ) आगे बढ़ाता हूँ, ( ते ) तेरा ( अयम् ) यह [ सेवक ]  
( शतम् ) सौ ( शरदः ) शरद् ऋतुओं तक ( जीवाति ) जीता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञ परमेश्वर के महा क्रोध से भय मानकर मनुष्य पातकों  
से बचें और सब के साथ उपकार करके जीवन भर आनन्द भोगें ॥ २ ॥

यदुववथानृतं जिह्वया वृजिनं बहु ।

राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणाद्दहम् ॥ ३ ॥

यत् । उवक्थ । अनृतम् । जिह्वया । वृजिनम् । बहु ।

राज्ञः । त्वा । सत्य-धर्मणः । मुञ्चामि । वरुणात् । दहम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे आत्मा !] ( यत् ) जो ( बहु ) बहुत सा ( अनृतम् ) असत्य  
और ( वृजिनम् ) पाप ( जिह्वया ) जिह्वा से ( उवक्थ ) तू बोलता है । ( दहम् )  
मैं ( त्वा ) तुझ को ( सत्यधर्मणः ) सच्चे धर्मात्मा वा न्यायी, ( वरुणात् ) सब  
में श्रेष्ठ परमेश्वर ( राज्ञः ) राजा से ( मुञ्चामि ) छुड़ाता हूँ ॥ ३ ॥

जुहोत्यादिः, शपः श्लुः । त्वं नितरां जानासि । द्रुग्धम् । द्रुह जिघांसायाम्-  
भावे-क्त । द्रोहम्, अपराधम् । सहस्रम् । सहो चलमस्त्यस्मिन्, सहस् +  
प्रत्ययो मत्वर्थे । बहुनाम, निघ० ३ । १ । वहन्, अनेकान् । अन्यान् ।  
माछाशासिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । इति अन प्राणने, जीवनं—य प्रत्ययः ।  
अनिति जीवतीति अन्यः । जीवान्, प्राणिनः । इतरान् वा । प्र+सुवामि ।  
पूङ् प्रेरणे, तुदादिः, डित्वाद् गुणप्रतिषेधे उवङ् । प्रकर्षेण प्रेरयामि, ऊर्ध्वं  
नयामि, उपकरोमि । साकम् । इण्भाकापा० उ० ३।४३। इति पो अन्तकर्मणि-  
कन् । सह,सगम् । शतम् । बहुनाम, निघ० ३ । २ । वहीः । जीवाति । जीव  
प्राणधारणे—लेट्, लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । इति आडागमः । जीवेत् ।  
शरदः । श्रृट् भसोऽदिः । उ० १ । १३० । इति शृ हिंसायाम्—अदि । काला-  
ध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । आश्विनकार्तिक-मास-  
युक्तान् ऋतुविशेषान् । संवत्सरान् ॥

३—यत् । वचनम् । उवक्थ । ब्रूय्यक्तायां वाचि—लिट्, त्वम् उक्त-  
वानसि । अनृतम् । न ऋतम् । असत्यं । मिथ्याभाषणम् । जिह्वया ।

भावार्थ—जो मनुष्य मिथ्यावादी दुराचारी भी होकर उस प्रभु की शरण लेते और सत्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, वे लोग उस जगदीश्वर की न्याय व्यवस्था के अनुसार दुःख पाश से छूटकर आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

मुञ्जामि त्वा वैश्वानुरादं णु वान्महत्स्परि ।

सज्जातानुग्रेहा वदु ब्रह्म चापं चिकीहि नः ॥ ४ ॥

मुञ्चामि । त्वा । वैश्वानुरात् । अणुवात् । महत् । परि ।

स-ज्जातान् । उग्र । इह । आ । वदु । ब्रह्म । च । अप ।  
चिकीहि । नः ॥ ४ ॥

भावार्थ—[ हेआत्मा । ] (महत्) विशाल (अणुवात्) समुद्र के समान गंभीर (वैश्वानरात्) सब नरों के हित कारक वा सब के नायक परमेश्वर से (त्वा) तुझ को (परि मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूँ । (उग्र) हे प्रचण्ड स्वभाव [ परमेश्वर ! ] (सज्जातान्) [ मेरे ] तुल्य जन्म वालों को (इह) इस विषय में (आवदु) उपदेश कर (च) और (नः) हमारे (ब्रह्म) वैदिक ज्ञान को (अप) आनन्द से (चिकीहि) तू जान ॥ ४ ॥

शेवायहजिदाग्रीवाऽप्वामीवाः । उ० । १ । १५४ । इति जि जये—वन्, हुक् आ-  
गमे निपातितः । जयति रसमनया । रसनया । वृजिनम् । वृजेः किञ्च । उ० २ । ४७ ।  
इति वृजी वर्जने—श्नच्, स च कित् । पापम् । बहु । अधिकम् । राज्ञः । म० १ । अभ्य-  
क्षात् । त्वा । त्वाम् । सेवकम्, आत्मानम् । सत्य-धर्मणः । धर्मादनिच् केवलात् ।  
पा० ५ । ४ । १२४ । इति सत्य + धर्म + अनिच्, बहुव्रीहौ । यथार्थन्यायस्वभावात्  
मुञ्चामि । मुञ्च मोक्षे—लट् । मोचयामि, वियोजयामि । वरुणात् । म० १ ।  
ध्रेष्ठात् परमेश्वरात् । अहम् । उपासकः ॥

४—परि+मुञ्चामि । म० ३ । सर्वथा मोचयामि । वैश्वानरात् ।  
नृ प्रापणे—अच् । नृणातीति नरः पुरुषः । विश्वश्चासौ नरश्चेति । नरे संज्ञायाम् ।  
प० ६ । ३ । १२६ । इति विश्वस्य दीर्घः । विश्वानर एव वैश्वानरः । स्वार्थे अण् ।  
यद्वा । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । यद्वा । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति

भावार्थ—मनुष्य पापकर्म छोड़ने से सर्व हितकारी परमेश्वर के कोप से मुक्त होते हैं। परमात्मा सब प्राणियों को उपदेश करता और सब की सत्य भक्ति को स्वीकार कर यथार्थ आनन्द देता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ ११ ॥

१—६ ॥ पूषा देवता ! १ विराट् स्थाना त्रिष्टुप् ८ + १० + ८ + ११ = ३८, २, ३ अनुष्टुप् ८ × ४, ४-६ पंक्तिः ८ × ५ ॥

सृष्टि विद्या वर्णनम्—सृष्टि विद्या का वर्णन ॥

वषट् ते पूषन् स्मिन्सूतावयमा होता कृणोतु  
वेधाः । सिस्वतां नार्युतप्रजाता वि पर्वाणि  
जिहतां सूतवा उ ॥ १ ॥

वषट् । ते । पूषन् । अस्मिन् । सूतौ । अयमा । होता । कृणोतु ।  
वेधाः । सिस्वताम् । नारी । ऋत-प्रजाता । वि ।  
पर्वाणि । जिहताम् । सूतवै । उं इति ॥ १ ॥

अण् । वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति चापि  
वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः—निरु० ७ । २१ ।  
सर्वनायकात् । सर्वोपास्यात् । सर्वनरहितात् परमेश्वरात् । अर्णवात् ।  
केशाद् वोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०६ । अत्र । अर्णसोलापश्च । इति वार्त्तिकम् ।  
अर्णस् + व, सलोपः । अर्णांसि जलानि सन्त्यस्मिन् । समुद्रात् । समुद्र-  
वर्ह गम्भीरस्वभावात् । महतः । वर्तमाने पृषद् बृहन् महज्जगच्छतृ यश्च । उ०  
२ । ८४ । इति मह पूजायाम्—अति । बडात् । विशालात् । सजातान् । समान-  
जन्मनः पुरुषान् । उग्र । म० १ । हे प्रचण्ड, महाक्रोधिनं वरुण ! आ + वद ।  
समन्तात् कथय, उपदिश । ब्रह्म । १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानम् । अथ ।  
आनन्दे — इति शब्दस्तोममहानिधौ । चिकीर्हि । म० २ । किं ज्ञानं—लोष्ट ।  
जानीहि ॥

**भाषार्थ—**(पूषन्) हे सर्वपोषक, परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (वषट्) यह आहुति [भक्ति] है । (अस्मिन्) इस समय पर (सूतौ) सन्तान के जन्म को (अर्यमा) न्यायकारी, (होता) दाता, (वेधाः) सब का रचने वाला ईश्वर (कृणोतु) करे । (ऋतप्रजाता) पूरे गर्भवती (नारी)नरका हित करने हारी स्त्री (सितस्राम्) सावधान रहे, (पर्वाणि) इस के सब अङ्ग (उ) भी (सूतवै) सन्तान उत्पन्न करने के लिये (विजिहाताम्) कोमल होजावे ॥ १ ॥

**भावार्थ—**प्रसव समय होने पर पति आदि विद्वान् लोग परमेश्वर की भक्ति के साथ हवनादि कर्म प्रसूता स्त्री की प्रसन्नता के लिये करें और वह स्त्री सावधान होकर श्वास प्रश्वास आदि द्वारा अपने अंगों को कोमल रखे जिस से बालक सुख पूर्वक उत्पन्न होवे ॥ १ ॥

१—वषट् । वह प्रापणे—डषटि । इति शब्दस्ताममहानिधौ । आहुतिः, हविर्दानम् । भक्तिः । स्वाहा । पूषन् । १ । ६ । १ । पुष्पातीति पूषा । हे सर्वपोषक, परमेश्वर । अस्मिन् । अस्मिन् काले, इदानीम् । सूतौ । षड् प्राणिप्रसवे-क्तिन् । सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् । वार्तिकम्, पा० ७ । १ । ३६ । इति द्वितीयार्थे सप्तमी । प्रसवकर्म, जन्म । अर्यमा । ऋ गतौ-यत् । अर्यः श्रेष्ठः । श्वनुत्तन्पूषन् । ३० १ । १५६ । इति अर्य + मा माने-कनिन् । अर्यान् श्रेष्ठान् मिमीते मानयतीति । यथार्थज्ञाता, न्यायकारी होता । नःतृनेष्ट्वष्ट हो-त्रिति । ३०२ । ६६ । इति हु दानादानादनेषु । यद्वा हेञ् आह्वाने-तृन् । नित्वाद् आद्युदात्तः । दाता । होमकर्त्ता, ऋत्विक्, आह्वता । कृणोतु । कृवि हिंसाकरणयोः-लोट् । भवान् पूषा उपकरोतु । वेधाः । विधाजो वेधश्च । ३० ४ । २२५ । वि + धाञ् धारणपोषणदानेषु—असि, वेधादेशः । विशेषेण दधातीति । ब्रह्मा, चतुर्वेदवेत्ता । मेधावी-निघ० ३ । १५ । विधाता, रचयिता । सितस्राम् । सृ गतौ - लोट्, आत्मनेपदम् जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । अभ्यासस्य इत्वम् पुनरपि विकारणः शः । गच्छतु, सावधाना सुखप्रसूता वा भवतु । नारी । ऋतो ऽञ् । पा० ४ । ४ । ४६ । इति नृ नीतौ-अञ् । नृणा-ति नयतीति नरः । नराच्चेति वक्तव्यम् । तत्र वार्तिकम् । नर-अञ् । शार्ङ्ग रवा-द्यजो ङीन् । पा० ४ । १ । ७३ । इति ङीन् । नुर्नरस्य वा धर्म्या । नर धर्माचार-युक्ता । स्त्री, वधूः । ऋत-प्रजाता । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ ।



टिप्पणी—इस सूक्त में माता से सन्तान उत्पन्न होने का उदाहरण देकर बताया गया है कि मनुष्य सृष्टि विद्या के ज्ञान से ईश्वर की अनन्त महिमा का विचार करके परस्पर उपकारी बनें ॥

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ।

देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्ण्वन्तु सूतवे ॥ २ ॥

चतस्रः । दिवः । प्र- दिशः । चतस्रः । भूम्याः । उत । देवाः ।  
गर्भम् । सम् । ऐरयन् । तम् । वि । ज्-र्ण्वन्तु । सूतवे ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—(दिवः, आकाश की (चतस्रः) चारों (उत) और (भूम्याः) भूमि की (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाओं ने और (देवाः) दिव्य गुण वाले [अग्नि वायु आदि] देवताओं ने (गर्भम्) गर्भ को (समैरयन्) संगत किया है, वे सब (तम्) उस गर्भ को (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (व्यूर्ण्वन्तु) प्रस्तुत करें ॥ २ ॥

भावार्थ—अग्नि आदि दिव्य पदार्थों के यथार्थ संयोग से ईश्वरीय नियम के अनुसार यह गर्भ स्थिर हुआ है मनुष्य उन तत्त्वों की अनुकूलता को, माता और गर्भ में, स्थिर रखने के लिये सदा प्रयत्न करते रहें जिससे बालक बलवान् और नीरोग होकर पूरे समय पर उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

इति ऋत+प्रजात-अच्, टाप् । ऋतं सत्यं प्रजातं प्रजननमस्त्यस्याः । सत्य-  
प्रसवा, उचितसमयप्रसूता, जीवदपत्या । पर्वाणि । पर्व गतौ-कनिन् । यद्वा  
स्नामदिपद्यर्त्तिपृशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पृपूर्त्ता पालने च-  
वनिप् । शरीरग्रन्थयः, देहसन्धयः । वि+जिहताम् । ओहाङ् गतौ-लोट्  
वङ् वचनम्, जहोत्यादिः । विशेषेण गच्छन्तु कोमलानि सुखप्रसवयोग्यानि भव-  
न्तु । सूतवै । तुमर्थे सेसेन्० । पा० ३ । ४ । ६ । इति षूङ् प्राणिगर्भविमोचने  
तवै प्रत्ययः । प्रसवार्थम् ॥

२—चतस्रः । त्रिचतुरोः स्त्रियां तिस्टचतस्ट । पा० ७ । २ । ६६ । इति चतु-  
र्शब्दस्य जसि चतस्रादेशः । अचिर ऋतः । पा० ७ । २ । १०० । इति  
रेफादेशः । चतुःसंख्याकाः । दिवः । १ । ११ । २ । आकाशस्य । प्र-दिशः ।

टिप्पणी—देव वा देवता का अर्थ दिव्य वा अच्छे गुण वाला है । यजुर्वेद १४ । २० में यह देवता कहे हैं ।

अग्निर्देवता । वातो देवता । सूर्यो देवता । चन्द्रमा देवता । वसवो देवता । रुद्रो देवता । आदित्या देवता । मरुतो देवता । विश्वे देवा देवता । बृहस्पतिर्देवता । इन्द्रो देवता । वरुणो देवता ॥

अग्नि १, वायु २ सूर्य ३, चन्द्रमा ४, सबके बसाने वाले अस्त्रादि पदार्थ ५, दुःख दूर करने वाले जीव वा पदार्थ ६, प्रकाश करने वाले पदार्थ अथवा अदिति, विद्या वा पृथिवी के पुत्र के समान सेवा करने वाले पुरुष ७, दुष्टों के मारने वाले शूर वीर पुरुष ८, सब अच्छे गुण वाले विद्वान् ९, बड़े वेद वचनों वा ग्रन्थाण्डों का रक्षक परमेश्वर १०, ऐश्वर्य वा धन ११, और जल १२; यह सब (देवता) उत्तम गुण वाले हैं ॥

सुपा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि ।

अथय सुपणे त्वमव त्वं विष्कले सृज ॥ ३ ॥

सुपा । वि । ऊर्णोतु । वि । योनिम् । हापयामसि ।

अथय । सुपणे । त्वम् । अव । विष्कले । सृज ॥ ३ ॥

१ । ६ । २ । प्रकृष्टादिशः । प्राच्याद्याः प्रधानदिशः । भूम्याः । भुवः कित् । उ० ४ । ४५ । इति भू सत्तायां-मि । कृदिकारादक्तिनः । इति पक्षे ङीप् । पृथिव्याः, भूलोकस्य । देवाः । १ । ४ । ३ । दिव्यपदार्था अग्न्यादयः । विद्वांसश्च । गर्भम् । अर्त्तिगृभ्यां भन । उ० ४ । १५२ । इति गृ विज्ञापने, निगरणे च भन । गीर्यते जीयसंचितकर्मफलदात्रा ईश्वरेण प्रकृतिबलात् जठरगह्वरे स्थाप्यते पुरुषशक्ययोगेण स गर्भः । भ्रूणम्, उदरस्थसन्तानम् । सम् । सम्यक्, यथाविधि । ऐरयन् । ईर गतौ लङ् । संगतमकुर्वन् । वि+ऊर्णुवन्तु । ऊर्णुञ् आच्छादने-लोट् । विवृतं प्रस्तुतं कुर्वन्तु । सूतवे । तुमर्थे सेसेन से० । पा० ३ । ४ । ६ । इति पूङ् प्राणिगर्भविमोचने-तवेन् । निश्वात् आदधुदात्तः । प्रसवितुम् ॥

**भाषार्थ—**(सूषा) सन्तान उत्पन्न करने वाली माता ( व्यर्णोत्तु ) अङ्गों को कोमल करे ( योनिम् ) प्रसूतिका गृह को ( विहापयामसि ) हम प्रस्तुत करते हैं । ( सूषणे ) हे जन्म देने वाली माता ! ( त्वम् ) तू ( अथय ) प्रसन्न हो । ( विष्कले ) हे वीर स्त्री ! ( त्वम् ) तू (अव सृज) [ बालक को ] उत्पन्न करा॥३॥

**भावार्थ—**गर्भ के पूरे दिनों में गर्भिणी की शारीरिक और मानसिक अवस्था को विशेष ध्यान से स्वस्थ रखें । माता के प्रसन्न और सुखी रहने से बालक भी प्रसन्न और सुखी होता है । प्रसूतिका गृह भी पहिले से देश, काल विचार कर प्रस्तुत रखें कि प्रसूता स्त्री और बालक भले प्रकार स्वस्थ और दृष्ट पुष्ट रहें ॥ ३ ॥

नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम् ।

अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जुरायवत्त वेऽवजुरायु

पद्यताम् ॥ ४ ॥

न-इव । मांसे । न । पीवसि । न-इव । मज्ज-सु । आ-हतम् ।  
अव । एतु । पृश्नि । शेवलम् । शुने । जुरायु । अत्तवे । अव ।  
जुरायु । पद्य तांस् ॥ ४ ॥

३—सूषा । सूषति प्रसवतीति । पूष, सूष वा प्रसवे-अच्, टाप् । सवित्री जननी, माता । वि+ऊर्णोत्तु । म० १ । अङ्गानि प्रस्तुतानि करोतु । योनिम् । वहिश्चिथ्रुयुद्गुलाहात्वरिभ्यो नित् । उ० ४ । ५१ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-नि । योनिर्गृहनाम-निघ० ३ । ४ । गृहम् । प्रसूतिकागृहम् । वि+हापयामसि । ओ हाङ् गतौ-णिच् । अर्त्तिही० ! पा० ७ । ३ । ३६ । इति पुगागमः । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इकारः । विहापयामः । विशेषेण गमयामः । प्रस्तुतं कुर्मः । अथय । अथ यत्ने प्रहर्षे च, चुरादिः । यतस्व । दृष्टा भव । सूषणे । संपदादिभ्यः क्तिप् । वा० पा० ३ । ३ । ६४ । इति पूङ् प्रसवे-क्तिप् । सूः सवनम्, उत्पत्तिः । छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् । पा० ३ । ३ । २७ इति सू+पण दाने-इन् । सुवं सनोति ददातीति सूषणिः । तत्सम्बोधनम् । हे प्रसवस्य दात्रि कारिणि । विष्कले । कलस्तृपश्च । उ० १ । १०४ । इति विष्क हिंसायां दर्शने च कल प्रत्ययः । टाप् । हे वीरे, शूरे । दर्शनीये । अव+सृज । उपसर्गस्य व्यवधानम् । सृज विसर्गे । गर्भं बालकम् उत्पादय ॥

**भाषार्थ—**[वह जरायु] (नेव) न तो (मांसे) मांस में (न) न (पीवसि) शरीर की मुट्ठी में (नेव) और न (मज्जसु) हड्डियों की मीगं में (आहतम्) बंधी हुयी है। (पृश्नि) पतली (शेवलम्) सेवार घास के समान (जरायु) जेली वा भिल्ली (शुने) कुत्ते के लिये (अत्तवे) खाने को (अव) नीचे (एतु) आवे, (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिरजावे ॥ ४ ॥

**भाषार्थ—**जरायु एक भिल्ली होती है जिसे जेली वा जेरी कहते हैं और जिस में बालक गर्भ के भीतर लिपटा रहता है; कुछ उस में से बालक के साथ निकल आती है और कुछ पीछे। यह जरायु बालक उत्पन्न होने पर नाभि आवि के बन्धन से छुट जाती है और साररहित होकर माता के उदर में ऐसे फिर-तो है जैसे सेवार नाम घास जलाशय में। शरीर में उसके रहजाने से रोग होता है। इस से उस जरायु का उदर से निकल जाना आवश्यक है जिस से प्रसूता नारोग होकर सुखी रहे ॥ ४ ॥

५—न-इव । इव अवधाने । नैव । मांसे । मने दीर्घश्च । उ० ३ । ६४ इति मन ज्ञाने धृतौ च सप्रत्ययः, दीर्घश्च । रक्तजंघातुविशेषे । न । निषेधे । पीवसि । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति पीवस्थौल्ये-असुन् । जित्या-दिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १६७ । इति नित्वाद् आद्युदात्तः । स्थूलत्वे । मज्जसु । श्वनुक्षन् पूषन् । उ० १ । १५६ । इति मज्ज जलान्तः प्रवेशे-कनिन्, निपात्यते च । अस्थिमध्यस्थस्नेहेषु । आ-हतम् । आङ् + हन अथे गतौ च-क्त । संयद्गम् । अव । अवाक्, अधस्तात् । एतु । गच्छतु । पततु । पृश्नि । पृश्नीति । उ० ४ । ५२ । इति स्पृश स्पर्शे-नि, मलोपः । खलपम् । शेवलम् । शीडो धुक्लक् चलञ्चालनः । उ० ४ । ३८ । इति शीड् शयने-चालन्, ह्रस्वा वा । नित्वाद् आद्युदात्तः । जलस्थोपरिस्थतृणविशेषः, शेवालं शैवलं वा । तद्वत् जननीजठरे स्थितं जरायु । शुने । श्वनुक्षन् पूषन् । उ० १ । १५६ । इति श्वि गतौ-कनिन् । कुक्कुशाय । जरायु । किंजरयोः श्रिणः । उ० १ । ४ । इति जरा + इण् गतौ-ज्रण् । गर्भवेष्टनचर्म । उल्वम् । मांसपिण्डश्च यः प्रजननानन्तरं निः सर्गति । अत्तवे । तुमर्थे संसेन् । पा० ३ । ४ । ६ । इति अद भक्षणे-तवेन् प्रत्ययः । भक्षितुम् । पद्यताम् । पद गतौ दिवादित्वात् श्यन् । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति नित्यतायां पुनः कथनम् गच्छतु, पततु ॥

वि ते' भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गुर्वनिके ।  
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणां जरायु'  
पद्यताम् ॥ ५ ॥

वि । ते । भिनद्मि । मेहनम् । वि । योनिस् । वि । गुर्वीनि'के  
इति । वि । मातरम् । च । पुत्रम् । च । कुमारम् । जरायु'णा ।  
अथ । जरायु' । पद्यताम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (मेहनम्) गर्भ मार्ग को (वि) विशेष करके और (यो-  
निम्) गर्भाशय को (वि) विशेष करके और (गुर्वीनिके) पार्श्वस्थ दोनों नाड़ियों  
को (वि) विशेष करके (भिनद्मि) [मलसे] अलग करती हूं (च) और (मातरम्)  
माता को (च) और (कुमारम्) क्रीड़ा करने वाले (पुत्रम्) पुत्र को (जरायुणा)  
जरायु से (वि वि) अलग २ [करती हूं], (जरायु) जरायु (अथ) नीचे  
(पद्यताम्) गिर जावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में धात्रेयी [धायी] अपने कर्म का वर्णन करके प्रसूता  
को उत्साहित करती है, अर्थात् धायी बड़ी सावधानी से प्रसव समय प्रसूता  
के अंगों को आवश्यकतानुसार कोमल मर्दन करे और उत्पन्न होनेपर माता और

५—वि + भिनद्मि । भिदिर् विशेषकरणे, द्विधाकरणे च । मलात् पृथक्  
करोमि, विश्लेषयामि । मेहनम् । १ । ३ । ७ । गर्भमार्गम् । वि = विभिन्नम् ।  
एवं (वि) इति शब्देन सह सर्वत्र योजनीयम् । योनिस् । म० ३ । गर्भाशयम् ।  
गुर्वीनिके । १ । ३ । ६ । पार्श्ववर्तिन्यौ नाड्यौ । मातरम् । १ । २ । १ । मान्यते  
पूज्यते सा माता । जननीम् । पुत्रम् । पुत्रो ह्रस्वश्च । उ० ४ । १६५ । इति  
पूङ् शोधे क् । ह्रस्वश्च धातोः । पुनाति पित्रा दीनिति पुत्रः । पुत्रः पुरुत्रायते निपर-  
याद्धा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा-इति यास्कः, निरु० २ । ११ । पुरु + त्रैङ् रक्ष-  
णे-ङ । यद्वा, पुत् + त्रैङ्-ङ । यथा च रामयणे । २ । १० ७ । १२ । पुत्रात्मनो  
नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः । तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितृन् यः पाति  
सर्वतः ॥ ” अपत्यम् । सन्तानम् । कुमारम् । कुमार क्रीडने-अच् । क्रीडा-

सन्तान की यथायोग्य शुद्धि करके सुधि रखने और ऐसा यत्न करे कि जरायु अपने आप गिर जावे जिस से दोनों माता और सन्तान सुखी रहें ॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।

एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु  
पद्यताम् ॥ ६ ॥

यथा । वातः । यथा । मनः । यथा । पतन्ति । पक्षिणः । एव ।  
त्वम् । दश-मास्य । साकम् । जरायुणा । पत । अव । जरायु ।  
पद्यताम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( यथा ) जैसे ( वातः ) पवन और ( यथा ) जैसे ( मनः )  
मन और ( यथा ) जैसे ( पक्षिणः ) पक्षी ( पतन्ति ) चलते हैं । ( एव ) वैसेही  
( दशमास्य ) हे दस महीने वाले [ गर्भ के बालक ! ] ( त्वम् ) तू ( जरायुणा  
साकम् ) जरायु के साथ ( पत ) नीचे आ, ( जरायु ) जरायु ( अव ) नीचे  
( पद्यताम् ) गिर जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—( दशमास्य ) दशवें अथवा ग्यारहवें महीने में बालक माता  
के गर्भ में बहुत शीघ्र चेष्टा करता है तब वह उत्पन्न होता है और जरायु वा  
जेली कुछ उस के साथ और कुछ उसके पीछे निकलती है ॥ ६ ॥

शीलम् । शिशुम् । जरायुणा । म० ४ । गर्भवेष्टनचर्मणा । अन्यत् गतम्—म० ४ ।

६—यथा । येन प्रकारेण । वातः । हसिमृगिण् वा० । उ० ३ । ८६ ।  
इति वा सुम्नासिगतिसेवासु—तन् । निच्वाद् आद्युदात्तः । वायुः, पवनः ।  
मनः । १ । १ । २ । ज्ञानसाधकम् अन्तः करणम् । पतन्ति । शीघ्रंगच्छन्ति  
उद्गीयन्ते । पक्षिणः । अत इतिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति पक्ष—इति ।  
विहगाः । एव । निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । एवम्, तथा ।  
दश-मास्य । तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च । पा० २ । १ । ५१ । इति

ऋग्वेद म० ५ सू० ७८ म० ८ में इस प्रकार है ।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजेति ।

एवा त्वं दशमास्य सुहावेहि जरायु'शा ॥ १ ॥

जैसे वायु, जैसे वृक्ष और जैसे समुद्र हिलता है, ऐसे ही तू है वस महीने वाले [ गर्भ के बालक ! ] जरायु के साथ नीचे आ ।

शब्दकल्पद्रुम कोश में लिखा है ।

अष्टमे मासि याते च अग्नियोगः प्रवर्तते ।

मासे तु नवमे प्राप्ते जायते तस्य चेष्टितम् ॥ १ ॥

जायते तस्य वैराग्यं गर्भवासस्य कारणात् ।

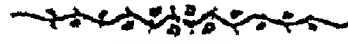
दशमे च प्रसूयेत तयैकादशमासि वा ॥ २ ॥

और आठवां महीना आने पर अग्नि योग होता है और नवमे महीने में उस [ गर्भ ] में चेष्टा होती है ॥ १ ॥ गर्भ में वास् करने के कारण उस को वैराग्य ( उच्छादन ) होता है, तब वसवे अथवा ग्यारहवें महीने में वह उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

तद्वितार्थे विषयभूते समासः । संख्यापूर्वो द्विगुः । पा० २ । १ । ५२ । इति द्विगु संज्ञायाम् । द्विगोर्यप् । पा० ५ । १ । ८२ । इति भरणार्थे यप् । हे दशसु मासेषु मात्रा पोषित शिशो । साकम् । सह । सहयुक्तेऽप्रधाने । पा० २ । ३ । १६ । इति सहार्थेन साकं शब्देन योगे जरायुणा इति अप्राधान्ये तृतीया । पत । अभो गच्छ । अथ । इत्यादि गतं म० ४ ।

## अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥



सूक्तम् १२ ॥

१—४ ॥ वृषा देवता । १, २ ईश्वरगुणाः, ३, ४, रोग निवृत्तिः ।

१-३ त्रिष्टुप् ११ × ४, ४ अनुष्टुप् ॥

१, २ ईश्वरगुणः, ३, ४ रोगनिवृत्तिः— १, २ ईश्वर के गुण और ३ ४ रोग निवृत्ति का उपदेश ॥

जरायुजः प्रथम उस्त्रियं वृषा वार्तभ्रजा स्तनय-  
न्नेति वृष्ट्या । स नो मृडाति तन्वै ऋजुगो रुजन्  
य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥ १ ॥

जरायु-जः । प्रथमः । उस्त्रियः । वृषा । वार्त-भ्रजाः । स्तनयन् ।  
एति । वृष्ट्या । सः । नः । मृडाति । तन्वै । ऋजु-गः ।  
रुजन् । यः । एकम् । ओजः । त्रेधा । वि-चक्रमे ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—( जरायुजः ) भिक्षी से [ जरायुरूप प्रकृति से ] उत्पन्न करने वाला, ( प्रथमः ) पहले से वर्तमान, ( उस्त्रियः ) प्रकाशवान् [ हिरण्यगर्भनाम ], ( वार्तभ्रजाः ) पवन के साथ पाकशक्ति वा तेज देने वाला, ( वृषा ) मेघ रूप परमेश्वर ( स्तनयन् ) गरजता हुआ ( वृष्ट्या ) बरसा के साथ ( एति ) चलता रहता है । ( सः ) वह ( ऋजुगः ) सरलगामी ( रुजन् ) [ दोषों को ]

१—जरायुजः । पञ्चम्यामजातौ । पा० ३ । २ । ६८ । इति जरायु+जन जननप्रादुर्भावयोः—उ । जरायोः प्रकृतिरूपाद् गर्भाशयाज्जनयति उत्पादयति सः । जरायुरूपायाः प्रकृतेः सृष्टिजनयिता । प्रथमः । प्रथमम् । उ० ५ । ६८ । इति,



मिटाता हुआ, ( नः ) हमारे ( तन्वे ) शरीरके लिये ( मृडाति ) सुख देवे, ( यः ) जिस ( एकम् ) अकेले ( ओजः ) सामर्थ्य ने ( त्रेधा ) तीन प्रकारसे ( विचक्रमे ) सब ओर को पद बढ़ाया था ॥ १ ॥

**भावार्थ**—जैसे माता के गर्भ से जरायु में लिपटा हुआ बालक उत्पन्न होता है वैसे ही ( उल्लियः ) प्रकाशवान् हिरण्यगर्भ और मेघ रूप परमेश्वर ( वातभ्रजाः ) सृष्टि में प्राण डालकर पाचन शक्ति और तेज देता हुआ सब संसार को प्रलय के पीछे प्रकृति, स्वभाव, वा सामर्थ्य से उत्पन्न करता है, वही त्रिकालेश और त्रिलोकीनाथ आदि कारण जगदीश्वर हमें सदा आनन्द देवे ॥ १ ॥

प्रथं ख्यातौ—अमच् । आदिमः, जगतः पूर्ववर्तमानः । उल्लियः । स्फायितञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वस निवासे—रक् । वसत्येषु सूर्यादिपरतेजः, वसन्त्येषु रसाः इति उक्ताः किरणाः, ततो मत्वर्थीयो घः । रश्मिवान्, हिरण्यगर्भः । परमेश्वरः । वृषा । कनिन् युवृषितक्षि० उ० १ । १५६ । इति वृषु सेचने, प्रजनैश्वर्योः—कनिन् । नित्वाद् आद्युदात्तः । वर्षकः । ऐश्वर्यवान् । इन्द्रः, सूर्यः, मेघः । तद्वद् वर्तमानः । वातभ्रजाः । वात + भ्रज्-पाके वा भ्राज दीप्तौ—असुन् । वातेन सह पाकः, दीप्तिस्तेजो वा यस्य स वातभ्रजाः । स्तनयन् । स्तनदेव-शब्दे, चुरादिः,—शतृ । गर्जयन् । एति । गच्छति । वृष्ट्या । वृषु सेचने—क्तिन् । वर्षणेन । मृडाति । मृड सुखने—लेट्, आडागमः । सुखयेत् । तन्वे । १ । १ । १ । स्वरितश्च । शरीराय । ऋजुगः । ऋजु + गम्ल-ड । सरलगामी । रुजन् । रुजो भङ्गे, तुदादिः—शतृ । । भजन्, दोषान् निवारयन् । एकम् । इण् भीकापा० । उ० ३ । ४३ । इति इण् गतौ—कन् । एति सर्वं व्याप्नोतीति एकः । मुख्यम्, केषलम् । ओजः । उब्जेर्वले वलोपश्च । उ० ४ । १६२ । इति उब्ज आर्जवे—असुन् । बलम्, तेजः । त्रेधा । संख्याया विधार्थे धा । पा० ५ । ३ । ४२ । त्रिप्रकारेण, भूतवर्तमानभविष्यति वर्तमानत्वेन, त्रिलोक्यां व्यापनेन । वि-चक्रमे । क्रमु पादविक्षेपे—लिट्, वेः पादविहरणे । पा० १ । ३ । ४१ । इति आत्मनेपदम् । विविधम् आक्रान्तवान् ॥

यजुर्वेद में इस प्रकार वर्णन है—य० १३ । ४ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रं भूतस्य जातः पतिरेकं  
आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय  
हविषा विधेम ॥

( हिरण्यगर्भः ) तेजों का आधार परमेश्वर पहिले ही पहिले नियम पूर्वक  
वर्तमान था, वह संसार का प्रसिद्ध एक स्वामी था । उसने इस पृथिवी और  
प्रकाश को धारण किया था, हम सब उस प्रकाशमय प्रजापति परमेश्वर  
की भक्ति से सेवा किया करें ॥

और भी देखो ऋ० १ । २२ । १७ ।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।  
समूढमस्य पांसुरे ॥

( विष्णु ) व्यापक परमेश्वर ने इस [ जगत् ] में अनेक अनेक प्रकार से  
पद की बढ़ाया, उसने अपने विचारने योग्य पद को तीन प्रकार से परमाणुओं  
से युक्त [ संसार ] में जमाया ॥

सायणभाष्य में ( वातध्रजाः ) के स्थान में ( वातवजाः ) शब्द और अर्थ  
“वायु समान शीघ्रगामी” है ॥

अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा  
हविषा विधेम । अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम  
यो अग्रभीत् पर्वीस्या ग्रभीता ॥ २ ॥

अङ्गे-अङ्गे । शोचिषा । शिश्रियाणम् । नमस्यन्तः । त्वा ।  
हविषा । विधेम । अङ्कान् । सम्-अङ्कान् । हविषा । विधेम ।  
यः । अग्रभीत् । पर्व । अस्य । ग्रभीता ॥ २ ॥

भाषार्थ—( शोचिषा ) अपने प्रकाश से ( अङ्गे अङ्गे ) अङ्ग अङ्ग में

२-अङ्गे-अङ्गे । अङ्ग चिह्न करणे-अच । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४

( शिश्रियाणम् ) ठहरे हुये ( त्वा ) तुझ को ( नमस्यन्तः ) नमस्कार करते हुये हम ( हविषा ) भक्ति से ( विधेम ) सेवा करते रहें । [ उसके ] ( अङ्कान् ) पृथक् पृथक् चिन्हों को और ( समङ्कान् ) मिले हुये चिन्हों को ( हविषा ) भक्ति से ( विधेम ) हम आराधें, ( यः ) जिस ( ग्रभीता ) ग्रहण करने हारे परमेश्वर ने ( अस्य ) इस [ सेवक वा जगत् ] के ( पर्व ) अवयव अवयव को ( अग्रभीत ) ग्रहण किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—वह ( वृषा ) परमात्मा हमारे और सब व्यक्ति और समस्ति रूप जगत् के रोम रोम में परिपूर्ण है उस प्रकाश स्वरूप के गुणों को यथावत् जानकर हम लोग उस पर पूरी श्रद्धा से आत्म समर्पण करें । वह हमारे शरीर और आत्मा को बल देकर सहाय और आनन्द देता है ॥ २ ॥

इति द्विर्वचनम् । अङ्ग इत्यादौ च । पा० ६ । १ । ११६ । इति प्रकृतिभावः । सर्वेष्वङ्गेषु अवयवेषु । शोचिषा । अर्चिशुचिदुष्टपि० । उ० २ । १०८ । इति शुच शौचे=शुद्धौ-इति । दीप्त्या प्रकाशेन । शिश्रियाणम् । लिटः कानज्वा । पा० ३ । २ । १०६ । इति । अञ् सेवायाम्-कानच् । अचि श्नुधातु० । पा० ६ । ४ । ७७ । इति इयडादेशः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तत्वम् । आश्रितम्, परिपूर्णम् । नमस्यन्तः । नमोवरिवश्चि त्रिङः क्यच् । पा० ३ । १ । १६ । इति नमस्-क्यच् पूजायाम् । लटः शतृ । पूजयन्तः । त्वा । त्वां वृषाणम् । हविषा । १ । ४ । ३ । दानेन, आत्मसमर्पणेन भक्त्या । विधेम । विध विधाने, तुदादिः, विधिलिङ् । परिचरणाकर्मा-निघ० ५ । ५ । परिचरेम, सेवेमहि । अङ्कान् । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति अञ्चु गतिपूजनयोः-कर्तरि घञ् । चजोः कुघिरण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । अञ्चनशीलान् गमनशीलान्, व्यस्तिरूपेण पृथक् पृथग् व्याप्तान् गुणान् । सम्-अङ्कान् । सम्भूय गमनशीलान् । समस्तिरूपेण संगतान् गुणान् । अग्रभीत् । ग्रह उपादाने-लुङ्, हस्य भकारः । अग्रहीत् । पर्व । स्नामदिपद्यर्त्तिपृशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पृ पालने, पूतौ-वनिप् । प्रत्येकावयवम् । ग्रभीता । ग्रह उपादाने-तृच् । हस्य भः । ग्रहीता, ग्राहकः, धारकः ॥

मुञ्च शीर्षकृत्या उत कास एनं परुष्परुराविवे-  
शा यो अस्य । यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो  
वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥

मुञ्च । शीर्षकृत्याः । उत । । कासः । एनम् । परुः-परुः । आ-  
विवेशः । यः । अस्य । यः । अभ्र-जाः । वात-जाः । यः । च ।  
शुष्मः । वनस्पतीन् । सचताम् । पर्वतान् । च ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(एनम्) इस पुरुष को (शीर्षकृत्याः) शिरकी पीड़ा से (उत) और  
[उस खाँसीसे] (मुञ्च) छुड़ा (यः कासः) जिस खाँसी ने (अस्य) इस पुरुष के  
(परुःपरुः) जोड़ जोड़ में (आविवेश) घर कर लिया है । (यः) जो खाँसी (अभ्रजाः)  
मेघ से उत्पन्न, (वातजाः) वायु से उत्पन्न (च) और (यः) जो (शुष्मः) सूखी  
[होवे और जो] (वनस्पतीन्) वृक्षों से (च) और (पर्वतान्) पहाड़ों से (सच-  
ताम्) संबन्ध वाली होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—खाँसी सब रोगों की माता है जैसा कि प्रसिद्ध है “लड़ाई का  
घर हाँसी और रोग का घर खाँसी” । जैसे सद्बैद्य मन्त्र में कहे अनुसार मस्तक

३—मुञ्च । मुञ्च मोचणे । मोचय । शीर्षकृत्याः । शीर्ष + अञ्चु गतिपूज-  
नयोः-क्तिन् । शीर्ष शिरः अञ्चति गच्छति व्याप्नोतीति शीर्षक्तिः, तस्याः शिरः-  
पीडायाः सकाशात् । उत । अपि च । कासः । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ ।  
इति कासः शब्दकुत्सनयोः-घञ् । रोगविशेषः । कासी वा खाँसी  
इति भाषा । क्षयः । परुः-परुः । अर्त्तिपृथ्वियजि० । उ० २ । ११७ ।  
इति पृ पृत्तिपालनयोः-उसि । सर्वान् शरीरसन्धीन् । आ-विवेशः । विश  
प्रवेशनं-लिट् । छान्दसो दीर्घः । प्रविष्टवान् । अभ्रजा । अप् + भृ-क्त । अपो  
विमर्त्तति अभ्रं मेघः । जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इति अभ्र +  
जनी प्रादुर्भावे-विट् । विड्वनोर नुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इति आत्वम् ।  
मेघस्य सम्बन्धाज्जातः । वातजाः । पूर्ववत् । वात + जनी-विट् । वायोर्जातं  
उत्पन्नः कासः शुष्मः । अविसिचिसिष्टुपिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । इति

की पीड़ा और खाँसी आदि बाहिरी और भीतरी रोगों का निदान जान कर रोगी को स्वस्थ करता है इसी प्रकार परमेश्वर वेद ज्ञान से मनुष्य को दोषों से छुड़ा कर और ब्रह्म ज्ञान देकर अत्यन्त सुखी करता है । इसी प्रकार राज प्रबन्ध और गृह प्रबन्ध आदि व्यवहार में विचारना चाहिये ॥ ३ ॥

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे ।

शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे ३ मम ॥४॥

शम् । मे । परस्मै । गात्राय । शम् । अस्तु । अवराय । मे ।

शम् । मे । चतुः-भ्यः । अङ्गेभ्यः । शम् । अस्तु । तन्वे । मम ॥४॥

भाषार्थ—(मे) मेरे (परस्मै) ऊपर के (गात्राय) शरीर के लिये (शम्) सुख और (मे) मेरे (अवराय) नीचे के शरीर के लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे । (मे) मेरे (चतुर्भ्यः) चारों (अङ्गेभ्यः) अंगों के लिये (शम्) सुख और (मम) मेरे (तन्वे) सब शरीर के लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

शुष शोषे-मन् स च कित् । शोषकः, पित्तविकारादिजनितः कासः । वनस्प-  
तीन् । १ । ३५ । ३ । वनानां पतिः पाता वा वनस्पतिः । वनति सेवते अथवा  
वन्यते सेवते इति वनम् । वन सेवने, याचने, उपकारे-अच् । पारस्करप्रभृतीनि  
च संज्ञायाम् । पा० ६ । १ । १५७ । इति सुडागमः । सर्ववृक्षान् । सचताम् ।  
षच समवाये-लाट् । सचन्ताम्=संसेव्यन्ताम्-निरु० ६ । ३३ । समवैतु, सम्ब-  
धातु । पर्वतान् । भृशदृशियजिपर्विपचि । उ० ३ । ११० । इति पर्व पूरणे-  
अतच् । शैलान् ॥

४-परस्मै । १।८।३। श्रेष्ठाय, उपरिवर्तमानाय । गात्राय । गमेराच । उ०  
४ । १६६ । इति गम्लु-त्रन्, मस्य आकारः । गच्छति चेष्टतेऽनेन । अङ्गाय, शरी-  
राय । अवराय । १ । ८ । ३ । निरुष्टाय, अवस्ताद् वर्तमानाय । चतुः-भ्यः ।  
चतुःसंख्येभ्यः । द्वौ हस्तौ, द्वौ पादौ-इति चत्वारि तेभ्यः । अङ्गेभ्यः । अङ्ग पदे=  
गतौ-अच् । अङ्गयति चेष्टतेऽनेन । अवयवेभ्यः, गात्रेभ्यः । तन्वे । म० १ ।  
शरीराय सर्वस्मै ॥

भावार्थ—चारों अंग दो हाथ और दो पद हैं । मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वर की प्रार्थना पूर्वक अपने सब अमूल्य शरीर को प्रयत्न से सर्वथा स्वस्थ रखे और मानसिक बल बढ़ा कर संसार में उपकारी हो और सदा सुख भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १३ ॥

१—४ ॥ प्रजापतिर्देवता । १, २ अनुश्रुप्, ३, ४ जगती १२ × ४ ॥

आत्मरक्षोपदेशः—आत्मरक्षा के लिये उपदेश ॥

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्तवे ।

नमस्ते अस्त्वश्मने येन दुःदाशे अस्यसि ॥ १ ॥

नमः । ते । अस्तु । वि-द्युते । नमः । ते । स्तनयित्तवे ।

नमः । ते । अस्तु । अश्मने । येन । दुः-दाशे । अस्यसि ॥ १ ॥

भावार्थ—हे परमेश्वर । ( ते ) तुझ ( विद्युते ) कौंधा लेती हुयी, विजुली रूप को ( नमः ) नमस्कार ( अस्तु ) होवे, ( ते ) तुझ ( स्तनयित्तवे ) गड़गड़ाते हुये, बादलरूप को ( नमः ) नमस्कार होवे । ( ते ) तुझ ( अश्मने ) पाषाण रूप को ( नमः ) नमस्कार ( अस्तु ) होवे, ( येन ) जिस [पत्थर] से ( दुःदाशे ) दुःखदायी पुरुष को ( अस्यसि ) तू ढादेता है ॥ १ ॥

१—विद्युते । आजभासधुर्विद्युतो० । पा० ३ । २ । १७७ । इति वि + द्युत दीप्तौ—किप् विशेषेण दीप्यमानायै तडिते, सौदामिन्यै, तडिद्रूपाय । स्तनयित्तवे । स्तनिहृपिपुषिगदिभदिभ्यो णेरित्त्वात् । उ० ३ । २६ । इति स्तन देवशब्दे—इत्त्वात् । चुरादित्वात् णिच् । अदन्तत्वाद् उपधावृध्यभावः । अयामन्तात्वाय्येत्त्विष्णुषु । पा० ६ । ४ । ५५ । इति णेः अयादेशः । गर्जनशीलाय मेघाय, तद्रूपाय । अश्मने । अशिशकिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । इति अशुद्ध्यासिखंहत्योः—मनिन् । व्यापनशीलाय । पाषाणाय, तद्रूपाय । दुः-

भावार्थ—न्यायकारी परमात्मा दुःखदायी अधर्मी पापियों को आधि-  
दैविक आदि दंड देकर असह्य विपत्तियों में डालना है, इसलिये सब मनुष्य  
उस के कोप से डर कर उसकी आज्ञा का पालन करें और सदा आनन्द भोगें ॥१॥

नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि ।

मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ २ ॥

नमः । ते । प्र-वतः । नपात् । यतः । तपः । समू-जहसि ।

मृडय । नः । तनूभ्यः । मयः । तोकेभ्यः । कृधि ॥ २ ॥

भावार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने हारे ! (ते) तुझ  
को ( नमः ) नमस्कार है, (यतः) क्योंकि तू, [ दुष्टों पर ] ( तपः ) संताप को  
( समूहसि ) संयुक्त करता है । ( नः ) हमें ( तनूभ्यः ) हमारे शरीरों के लिये  
( मृडय ) सुख दे और ( तोकेभ्यः ) हमारे सन्तानों के लिये ( मयः ) सुख  
( कृधि ) प्रदान कर ॥ २ ॥

दाशे । दुर् + दाश् दाने-घञ् वा खल् । पृषोदरादीनि यथापदिष्टम् । पा० ६ ।  
३ । १०६ । अत्र । दुरोदाशनाशदभ्येषत्वमुत्तरपदादेः ण्विञ्च । इति वार्त्ति-  
केन ऊत्वं उत्वं च । दुर् दुःस्त्रं दाशति ददातीति दुःडाशः । सुपां सुपो भवन्ति ।  
वा० पा० ७ । १ । ३६ । इति द्वितीयायां सप्तमी । दुःखदायिनम् अधार्मिकं  
पुरुषम् । अस्यसि । असु क्षेपणं-श्यन् । क्षिपसि नाशयसि ॥

२—प्र-वतः । प्रपूर्वकात् वन संभक्तौ = संघने, याचे च-किप् । गमः शी  
पा० ६ । ४ । ४० । अत्र । गमादीनामिति वक्तव्यम् । इति वार्त्तिकेन नकारलोपः ।  
ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७६ । इति तुक् आगमः । भक्तस्य संघ-  
कस्य याचकस्य अथवा भक्तान् द्वितीयार्थे । नपात् । नप् पूर्वकान् पत  
अधः पतने, णिच्—किप् । नप्राण् नपात्० । पा० ६ । ३ । ७७ । इति नप्  
प्रकृतिभावः । न पातयतीति नपात् । हे नपातयिनः, न पातनशील ! धारयिनः ।  
( नपात् ) य० १२ । १०८ । न विद्यते पातो धर्मात् पतनं यस्य सः-इति धी मद्-  
दयानन्दः । यतः । यस्मात् कारणात् । तपः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ ।  
१८६ । इति तप सन्तापे—असुन । सन्तापम् । सम् + ऊहसि—ऊह वितर्के ।

भावार्थ—परमेश्वर भक्तों को आनन्द और पापियों को कष्ट देता है ।  
सब मनुष्य नित्य धर्म में प्रवृत्त रहें और संसार भर में सुख की वृद्धि करें ॥

प्रव॑तो न॒पा॒न् नम॑ ए॒वास्तु॑ तु॒भ्यं नम॑स्ते हे॒तये॑  
तपु॑षे च कृ॒ण्मः । विद्म॑ ते धाम॑ प॒रमं गु॒हा यत्  
समु॑द्रे अ॒न्तर्निहि॑तासि नाभिः ॥ ३ ॥

प्र-व॑तः । न॒पा॒त् । नमः॑ । ए॒व । अ॒स्तु । तु॒भ्य॑स् । नमः॑ । ते॒ ।  
हे॒तये॑ । तपु॑षे । च॒ । कृ॒ण्मः॑ । वि॒द्म॑ । ते॒ । धाम॑ । प॒र॒मम् ।  
गु॒हा । यत् । समु॑द्रे । अ॒न्तः । नि-हि॑ता । अ॒सि । नाभिः॑ ॥३॥

भावार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने वाले ! (तुभ्यम्)  
तुझको (एव) अवश्य (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (ते) तुझ (हेतये) वज्र-  
रूप को (च) और (तपुषे) तपाने वाले तोष आदि अस्वरूपको (नमः) नमस्कार  
(कृण्मः) हम करते हैं । (यत्) क्योंकि (ते) तेरे (परमम्) बड़े ऊँचे (धाम)  
धाम [निवास] के (गुहा=गुहायाम्) गुफा में [अपने हृदय और प्रत्येक  
अगम्य स्थान में] (चिन्म) हम जानते हैं । (समुद्रे अन्तः) आकाश के बीच में

उपसर्गवशात् संघोकरणे । लङ्घतं करोपि, संयोजयपि । मृडय । मृड तोषणे ।  
तोषय, अनुगृहाण । तनूभ्यः । १ । १ । १ । शरीरेभ्यः । तेषां हिताय । मयः ।  
मित्र, हिंसायाम्-असुन् । मिनोति दुःखम् । सुखम् । निघ० ३ । ६ । तीक्ष्णभ्यः ।  
कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । इति तु वृद्धौ पूतौ-क प्रत्ययः । तीति  
पूरयति गृहमिति तोकम् । अपत्यनाम-निघ० २ । २ । अपत्येभ्यः । कृधि । कुरु ।  
देहि । तीक्ष्णभ्यस्कृधि । कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः । पा० ८ । ३ ।  
५० । इति विसर्गस्य सत्वम् ॥

३—प्र-व॑तः न॒पा॒त् । म० २ । हे स्वभक्तस्य न पातयितः । हेतये ।  
ऊत्तियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च । पा० ३ । ३ । ६७ । इति हन वधे गतौ च  
किन् । एत्वम् उदात्तत्वं च निपात्येत । यद्वा हि वर्धने गतौ च—किन् निपाति-  
तश्च । हन्यन्तेऽनया शयवः । गम्यतेऽनया जयः, वर्धयते वैश्वर्यम् । हेतिः, घञ्-



(नाभिः) बन्ध में रखने वाली नाभि के समान तू (निहिता) ठहरा हुआ (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस भक्त रक्षक, दुष्टनाशक परमात्मा का (परम धाम) महत्त्व सब के हृदयों में और सब अगम्य स्थानों में वर्तमान है। जैसे (नाभि) सब नाड़ियों को बन्धन में रखकर शरीर के भार को समान तोल कर रखती है, वैसे ही परमेश्वर (समुद्र) अन्तरिक्ष वा आकाश में स्थित मनुष्य आदि प्राणियों और सब पृथिवी, सूर्य आदि लोकों का धारण करने वाला केन्द्र है। विद्वान् लोग उसको माथा टेकते और उसकी महिमा को जानकर संसार में उन्नति करते हैं ॥ ३ ॥

यां त्वा देवा असृजन्तु विश्वं डपुं कृण्वाना असं-  
नाय धुण्णाम् । सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते  
नमो अस्तु देवि ॥ ४ ॥

नाम-निघ० ३। २०। वज्राय, वज्ररूपाय । तपुषे । अर्त्तिपूर्वपियजितनिधनि-  
तपिभ्यो-निन् । उ० २। ११७। इति तप ऐश्वर्यसंतापदाहेषु-उसि । दाहकाय  
अस्त्राय, तद्रूपाय । कृणमः । कृविहिंसाकरणयोः—लट् । वयं कुर्मः । विद्म ।  
विदोलटो वा । पा० ३। ४। ८३। इति विद् ज्ञाने मसो भादेशः । वयं जानीमः ।  
धाम । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४। १४५ । इति धा-मनिन् । स्थानम्,  
गृहम् । प्रभावम् । परमम् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३। २। ४। इति पर+  
मा माने-क । उत्कृष्टम् । गुहा । १। ८। ४। सप्तम्या लुक् । गुहायाम्, गते  
हृदये । गुहावद् अगम्ये प्रदेशे यत् । यस्मात् कारणात् । समुद्रे । १। ३। ८।  
अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३। २। १०१ इति सम्+उत्+द्रु गतौ-उप्रत्ययः,  
यद्वा, स्फायितञ्चिचञ्चि० । उ० २। १३। सम्+मुद हर्षे-अधिकरणे रक् ।  
यद्वा, सम्+उन्दीत्क्लेदने-रक् । सागरे, उदधौ, अन्तरिक्षे-निघ० १। ३। अन्तः ।  
मध्ये । नि-हिता । दधाते हिः । पा० ७। ४। ४२। इति नि पूर्वात् धाञः—क,  
हिरादेशः । स्थापिता । नाभिः । नहो भश्च । उ० ४। १२६। इति णह बन्धने-  
इष् प्रत्ययः, क्तिन्त्यादिर्नित्यम् । पा० ६। १। १६७। इति आद्युदात्तः । नहाति  
यभाति नाडीः । स्त्रीलिंगता । तुन्दकूपी । नाभिचक्रवत् मध्यस्थः ॥

याम् । त्वा । देवाः । असृजन्त । विश्वे । इषुम् । कृण्वानाः ।  
असनाय । धृष्णुम् । सा । नः । मृड । विदथे । गृणाना । तस्यै ।  
ते । नमः । अस्तु । देवि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( विश्वे ) सब ( देवाः ) विद्वानों ने ( याम् त्वा ) जिस तुझ परमेश्वर को (असनाय) नाश के लिये (धृष्णुम्) बहुत दृढ़ (इषुम्) शक्ति अर्थात् बरछी (कृण्वानाः) बनाकर (असृजन्त) माना है । (सा) सो तू (विदथे) यज्ञ में (गृणाना) उपदेश करती हुयी (नः) हमको (मृड) सुख दे, (देवि) हे देवी [बरछी] (तस्यै ते) उस तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वर के क्रोध को सब संसार के दोषों के नाश के लिये बरछी रूप समझ कर सदा सुधार और उपकार करते हैं तब संसार में प्रतिष्ठा और मान पाकर सुख भोगते और परमात्मा के क्रोध का धन्यवाद देते ॥ हैं ॥

यजुर्वेद में लिखा है—यजु० १६।३ ॥

यामिषु' गिरिशन्तु हस्ते' बिभर्ष्यस्तवे ।

शिवां गिरित्र तां कुरु माहिंसीः पुरुषं जगत् ॥१॥

४—त्वा । प्रवतो नपातम्, म०३ । देवाः । विद्वांसः । असृजन्त । सृज-  
विसर्गे—लङ् । सृष्टवन्तः, त्यक्तवन्तः । मनसा कल्पितवन्तः । इषुम् । ईषेः  
किञ्च । उ० १ । १३ । इति ईष हिंसने—उ, ह्रस्वश्च । अथवा । इष गतौ—उ ।  
चाणम् शक्तिनामायुधम् । कृण्वानाः । कृवि हिंसाकरणयोः—शानच् ।  
कुर्वाणाः । असनाय । असुक्षेपणे—भावे ल्युट् । क्षेपणाय । नाशनाय । धृष्णुम् ।  
असिगृधिधृपिक्षिपेः क्तुः । पा०३ । २ । १४० । इति जिधृषा प्रागल्भ्ये—क्तु । प्रग-  
ल्भाम्, निर्भयाम् सुदृढाम् । मृड । मृडय, सुखय । विदथे । रुविदिभ्यांङित् । उ०  
३ । ११५ । इति विद ज्ञाने विद्वत् लाभे विद विचारणे, विद सत्तायाम्—अथ  
प्रत्ययः । स च ङित् । विदथः, यज्ञनाम—निघ० ३ । १७ । ज्ञायते हि यज्ञः, लभते हि  
दक्षिणादिरत्र, विचार्यते हि विद्वद्भिः, भावयत्यनेन फलम्—इति तत्र टीकायां  
देवराज यज्वा । यज्ञे । वेदितव्ये कर्मणि । गृणाना । गृ शब्दे—शानच् । शब्दा-  
यमाना, उपदिशन्ती । देवि । हे द्योतमाने, हे दिव्यगुणयुक्त ॥

हे वेद द्वारा शान्ति फैलाने वाले ! जिस बगड़ी वा बाण को चलाने के लिये अपने हाथों में तू धारण करता है । हे वेद द्वारा रक्षा करने वाले ! उस को मंगलकारी कर, पुरुषार्थी लोगों को तू मत मार ॥

सूक्तम् १४ ॥

१—४ ॥ बधूवरौ देवते । अनुष्टुप् ८×४ ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाहसंस्कार का उपदेश ॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव खजम् ।

महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्व स्ताम् ॥ १ ॥

भगम् । अस्याः । वर्चः । आ । अदिषि । अधि । वृक्षात्-इव ।  
खजम् । महाबुध्नः-इव । पर्वतः । ज्योक् । पितृषु । आस्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस [बधू] से (भगम्) [अपने] ऐश्वर्य को और (वर्चः) तेज को (आ अदिषि) मैंने माना है, (इव) जैसे (वृक्षात् अधि) वृक्ष से (खजम्) फूलों की माला को । (महाबुध्नः) विशाल जड़वाले (पर्वतः इव) पर्वत के समान [ यह बधू ] ( पितृषु ) [मेरे] माता पिता आदि वान्धवों में (ज्योक्) बहुत काल तक (आस्ताम्) रहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—ग्रह चर का यचन है । विद्वान् पुरुष खोज कर अपने समान गुण धती स्त्री से विवाह करके संसार में ऐश्वर्य और शोभा पाता है जैसे वृक्ष के सुन्दर फूलों से शोभा होती है । बधू अपने सास ससुर आदि माननीयों की

१—भगम् । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३।३।१६। इति भज सेवायाम्-घ प्रत्ययः । चजोः कुर्ध्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति घत्वम् । भगः । धननाम निघ २ । १० । श्रियम्, ऐश्वर्यम् कीर्त्तिम् । अस्याः । नवोढायाः स्त्रियाः स-काशात् । वर्चः । १ । ६ । ४ । रूपम् । तेजः । आ+अदिषि । आङ् पूर्वकात् ङुदाङ् आदाने-लुङ् । आङो दोऽनास्य विहरणे । पा० १ । ३ । २० । इति आत्मने पदम् । अहं गृहीतवान् प्राप्तवानस्मि । अधि । पञ्चम्यर्थानुवादी । उपरि ।

सेवा और शिक्षा से दृढचित्त होकर घर के कामों का सुप्रबन्ध करके गृहलक्ष्मी की पत्नी नेव जमावे और पति पुत्र आदि कुटुम्बियों में बड़ी आयु भोग कर आनन्द करे ॥ १ ॥

मन्त्राः २—४ । वधूपक्षोक्तिः ॥

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम ।

सा मातुर्वध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

एषा । ते । राजन् । कन्या । वधूः । नि । धूयताम् । यम् । सा ।  
मातुः । वध्यताम् । गृहे । अथो इति । भ्रातुः । अथो इति । पितुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यम) हे नियम में चलाने वाले, घर (राजन्) राजा ! (एषा) यह (कन्या) कामना योग्य कन्या (ते) तेरी (वधूः) वधू (नि)नियम से (धूयताम्) व्यवहारकरे। (सा) वह (मातुः) [तेरी] माता के, (अथो) और भी (पितुः) पिताके (अथो) और (भ्रातुः) भ्राता के साथ (गृहे) घरमें (वध्यताम्) नियम से बन्धी रहे ॥ २ ॥

वृक्षात् इव । १ । २ । ३ । इगुपधक्षाप्रीकिरः । पा० ३ । १ । १३५ ।  
इति वृक्ष वरणे-क । वृक्ष्यते व्रियते सेव्यते छायाफलार्थम् । विटपात् यथा ।  
स्रजम् । ऋत्विग्दधृक् स्रग्दिगुष्णिक्० । पा० ३ । २ । ५६ । इति स्रज विसर्गे-  
क्विन् । स्रजति ददाति शोभामिति स्रक् । पुष्पमालाम् । महाबुधः । बन्धे-  
र्ध्विबुधी च । उ० ३ । ५ । इति बन्ध बन्धने-नक्, बुधादेशश्च । विशालमूलः,  
एदमूलः । पर्वतः । १ । १२ । ३ । शैलः । भूधरः । ज्योक् । १ । ६ । ३ । चिर-  
कालम् । पितृषु । १ । २ । १ । रक्षकेषु । जनकवत् मान्येषु, मातापित्रादिषु  
बन्धुषु । आस्ताम् । आस उपवेशने-लोट् । तिष्ठतु । निवसतु ॥ १ ॥

२—राजन् । १ । १० । १ । हे पेश्वर्यवन् जामातः । कन्या । अकन्या-  
दयश्च । उ० ४ । ११२ । इति कन प्रीतौ, द्युतौ, गनौ, -यक्, टाप् च । कन्यते काम्यते  
दीप्यते गच्छति वा सा । कमनीया । पुत्री । वधूः । वहर्धश्च । उ० १ । ८३ ।  
वह प्रापणे-ऊ प्रत्ययः, धश्च । वहति प्रापयति सुखानीति । यद्वा । बन्ध-ऊ,

भावार्य—मन्त्र २—४ वधू पक्ष के वचन हैं । वधू के माता पिता आदि घर से कहें कि यह सुशिक्षिता गुणवती कन्या आप को सौंपी जाती है यह आप के माता, पिता और भ्राता आदि सब कुटुम्बियों में रहकर अपने सुप्रबन्ध से सब को प्रसन्न रखने और सुख भोगे ॥ २ ॥

मनुजी महाराज ने कहा है—मनुस्मृति अ० २ श्लो० २४० ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।

विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ १ ॥

स्तुति योग्य स्त्रियां, रत्न, विद्या, धर्म, शुद्धता, और मीठी बोली, और अनेक प्रकार की हस्त क्रियायें सब से यत्नपूर्वक लेना चाहिये ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।

न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि ॥१॥

म० ५ । १४७ ॥

चाहे स्त्री बालक वा युवती वा बूढ़ी हो, वह स्वतन्त्रता से कोई काम घरोंमें भी न करे ॥

न लोपः । बध्नाति प्रेम्णा या तयोढा स्त्री, भार्या । नि । नितराम्, नियमेन । धूयताम् । धूञ् कल्पने-कर्मणि लोट् । चेष्टताम्, गृहकार्येषु प्रवर्तताम् । यम । यम नियमने-घञ् । यमयति नियमयति गृहकार्याणीति । यमो यच्छ्रुतीति । सतः, मध्यस्थानदेवतास्तु-निरु० १० । १६ । द्युस्थानः-निरु०, १२ । १०, ११ । वायुः, सूर्यः । हेनियामक घर । आतुः । १ । २ । १ । तव जनन्याः । बध्यताम् । बन्ध बन्धने कर्मणि लोट् । प्रेमवद्धा भवतु । गृहे । गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह आदाने-क । वासस्थाने, भवने, मन्दिरे । अथी । अथ + उ । अपि च । आतुः । नष्टनेष्टृत्वङ्ङृहोत् । उ० २ । ६५ । इति भ्राज दीप्तौ-तृन् । सहो-दरस्य । पितुः । म० १ । जनकस्य ॥ २ ॥

एषा ते कुलपा राजन् तामु' ते परि ददमसि ।

ज्योक् पितृष्वासाता आशीर्णाः सुमोप्यात् ॥ ३ ॥

एषा।ते।कुल-पाः।राजन्।ताम्।जं इति।ते।परि।ददमसि।

ज्योक्।पितृषु।आस्तातै।आ।शीर्णाः।सुम्-ओप्यात् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे वर राजा (एषा) यह कन्या (ते) तेरे (कुलपाः) कुल की रक्षा करने वाली है, (ताम्) उसको (जं) ही (ते) तेरे लिये (परि) आदर से (ददमसि) हम दान करते हैं। यह (ज्योक्) बहुत काल तक (पितृषु) तेरे माता पिता आदिकों में (आस्तातै) निवास करे, और (आशीर्णाः) अपने मस्तक तक [जीवन पर्यन्त वा बुद्धि की पहुँच तक] (सुमोप्यात्) ठीक ठीक बढ़ती का बीज दोगे ॥ ३ ॥

भावार्थ—फिर वधूपक्ष वाले माता पिता आदि इस मन्त्र से जामाता की विनती करते और स्त्री धर्म का उपदेश करते हुये कन्या दान करके गृहाश्रम में प्रविष्ट कराते हैं ॥ ३ ॥

३—कुलपाः । कुल + पा रक्षणे-कर्मण्युपपदे विच् प्रत्ययः । पातिप्रत्ययेन कुलस्य पालयित्री रक्षयित्री । राजन् । हे ऐश्वर्यवान् जामातः । जं इति । अवश्यम् । परि + ददमसि । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तत्वम् । रक्षणार्थं दानं परिदानम् । रक्षणार्थं दानः, समर्पयामः । ज्योक् । म० १ । दीर्घकालम् । पितृषु । म० १ । मातापित्रादिवन्धुषु । आस्तातै । आस उपवेशने-लेटि आडागमः । टेः एत्वे । वैतोऽन्यत्र । पा० ३ । ४ । ६६ । इति ऐकारः । आस्ताम्, निवसतु । आ-शीर्णाः । १ । ७ । ७ । आङ् मर्यादावचने । पा० १ । ४ । ८६ । इति आङः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । पञ्चम्यपाङ् परिभिः । पा० २ । ३ । १० । इति पञ्चमी । शीर्षश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन् आदेशः । मस्तकस्थितिपर्यन्तं, जीवनपर्यन्तम् । सम्-ओप्यात् = सम् + आ + उप्यात् । वप बीजवपने मुण्डने च-आशीर्लिङ् । यथामर्यादं बीजवपनं वर्धनं कुर्यात् ॥ ३ ॥

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।

अन्तः कोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥४॥

असितस्य । ते । ब्रह्मणा । कश्यपस्य । गयस्य । च ।

अन्तः-कोशम्-इव । जामयः । अपि । नह्यामि । ते । भगम् ॥४॥

भाषार्थ—(असितस्य) जो तू बन्धन रहित, (कश्यपस्य) [ सोम ] रस पीने हारा, (च) और (गयस्य) कीर्तन के योग्य है उस (ते) तेरे (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान के कारण (ते) तेरे लिये (भगम्) ऐश्वर्य को (अपि) अवश्य (नह्यामि) मैं बांधता हूँ । (इव) जैसे (जामयः) कुल स्त्रियां [वा वहिने] (अन्तः कोशम्) मञ्जूषा वा पिटारे को [बांधती] हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र के अनुसार वधू पक्ष वाले पुरुष और स्त्रियां विनती करके श्रेष्ठ वर और कन्या को धन, भूषण, और घस्र आदि से सत्कार के साथ विदा करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१-४ । प्रजापतिर्देवता । १ पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीयार्धस्त्रि-  
ष्टुप्, २ पूर्वार्धो जगती द्वितीयोऽनुष्टुप्, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

४—असितस्य । अञ्चिघृसिभ्यः कः । उ० ३।८६ । इति पिञ् बन्धने-क्त, नञ् समासः । अवद्धस्य, मुक्तस्य । ब्रह्मणा । १ । ८ । ४ ॥ वेदज्ञानकारणेन । कश्यपस्य । कश्च शब्दे-बाहुलकात् करणे-यत् । कश्चि अनेनेति कश्यं सुख-करो रसः । कश्य + पा पाने-क । कश्यं सोमरसं पिवतीति कश्यपः । सोमपानशीलस्य । गयस्य । गै गाने-घञ्, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः । गेयस्य कीर्तनीयस्य । अन्तः कोशम्-कुश संश्लेषणे - अधिकरणे घञ् । वस्त्रादि-धारणाय आवरणम्, मञ्जूषाम् । जामयः । १ । ४ । १ । कुलस्त्रियः, माता-भगिन्यादयः । अपि । अवधारणे, अवश्यम् । नह्यामि । एह बन्धने श्यन् । बध्नामि । भगम् । म० १ । ऐश्वर्यम् ॥ ४ ॥

पेश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—पेश्वर्य की प्राप्ति का उपदेश ॥

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः । इमं  
यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्त्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

सम् । सम् । स्रवन्तु । सिन्धवः । सम् । वाताः । सम् । पतत्रिणः ।  
इमम् । यज्ञम् । प्र-दिवः । मे । जुषन्ताम् । सम्-स्त्राव्येण । हविषा ।  
जुहोमि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सिन्धवः) सब समुद्र (सम् सम्) अत्यन्त अनुकूल  
(स्रवन्तु) बहें, (वाताः) विविध प्रकार के पवन और (पतत्रिणः) पक्षी  
(सम् सम्) बहुत अनुकूल बहें । (प्रदिवः) बड़े तेजस्वी विद्वान् लोग (इमम्)  
इस (मे) मेरे (यज्ञम्) सत्कार को (जुषन्ताम्) स्वीकार करें, (संस्त्राव्येण)  
बहुत आर्द्रभाव [ कोमलता ] से भरी हुयी (हविषा) भक्ति के साथ [उनको]  
(जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि नौका आदि से समुद्रयात्रा को, विमान  
आदि से वायुमण्डल में जाने आने के मार्गों को, और यथा योग्य व्यवहार से

१—सम् सम् । अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । अत्यन्त-  
सम्यक्, अत्यनुकूलाः । स्रवन्तु । स्रु गतौ, स्रवणे च-लोट् । गच्छन्तु, प्रव-  
हन्तु । सिन्धवः । १ । ४ । ३ । स्यन्दनशीलाः । समुद्राः । स्त्रियां, नद्यः ।  
सम् = संस्रवन्तु । उपसर्गवशात् स्रवन्तु इति सर्वत्र अनुषज्यते । अनुकूलाः  
प्रवर्तन्ताम् । वाताः । १ । ११ । ६ । विविधपवनाः । सम् । सम्यग् अनुकू-  
लाश्चरन्तु । पतत्रिणः । पतत्रं पक्षः । अत इतिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ ।  
इति पतत्र-इति मत्वर्थे । पक्षिणः । इमम् । प्रवृत्तमानम् । यज्ञम् । १ । ६ ।  
४ । यागं विदुषां पूजनम् । प्र-दिवः । प्र + दिव्य द्युतिस्तुतिगत्यादिषु-क्लिप् ।  
प्रकृष्टप्रकाशाः, देवाः, विद्वांसः । जुषन्ताम् । जुषी प्रीतिसेवनयोः-लोट् ।  
सेवन्ताम्, स्वीकुर्वन्तु । सम्-स्त्राव्येण । स्रु गतौ-ण । तस्येदम् । पा० ४ ।



पक्षी आदि सब जीवों को अनुकूल रखें, और विज्ञान पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेवें । और विद्वानों में पूर्ण प्रीति और श्रद्धा रखें जिससे वह भी उत्साह पूर्वक वर्ताव करें ॥ १ ॥

इहैव हवमा यात म इह संस्त्रावणा उतेमं वर्धयता  
गिरः । इहैतु सर्वो यः पशुस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥ २ ॥

इह । एव । हवस् । आ । यात । मे । इह । सम्-स्त्रावणाः ।  
उत । इह । वर्धयत । गिरः । इह । आ । एतु । सर्वः । यः ।  
पशुः । अस्मिन् । तिष्ठतु । या । रयिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(संस्त्रावणाः) हे बहुत आर्द्रभाववाले [बड़े कोमल स्वभाव]  
(गिरः) स्तुति योग्य विद्वानों ! (इह) यहां पर (इह) यहां पर (एव) ही (मे)  
मेरे (हवस्) आवाहन को (आयात) तुम पहुंचो, (उत) और (सम्) इस  
पुरुष को (वर्धयत) बढ़ाओ । (यः सर्वः पशुः) जो प्रत्येक जीव है [वह] (इह)  
यहां (एतु) आवे और (या रयिः) जो लक्ष्मी है [वह भी सब] (अस्मिन्) इस  
पुरुष में (तिष्ठतु) ठहरी रहे ॥ २ ॥

३ । १२० । इति संस्त्राव-यत् । यद्वा । अचोयत् । पा० । ३ । १ । ६७ । इति सम् +  
स्तु-णिच्-यत् । संस्त्रावेण सम्यक् स्त्रवेण आर्द्रभावेन युक्तेन । हविषा ।  
१ । ४ । ३ । आत्मदानेन, भक्त्या । जुहोमि । इह दानादानादनेषु-लट् । अहम्  
आददे, स्वीकरोमि तान् प्रदिवः ॥

२—हवस् । भावेऽनुपसर्गस्य । पा० ३ । ३ । ७५ । इति ह्वेष् आदाने,  
स्पर्धे च—अप् । आहानम्, आवाहनम् । आ + यात । या गतौ-लोट् । आग-  
च्छत । इह । तित्थवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति वीप्सायां इह शब्दस्य  
द्विर्वचनम् । अस्मिन्नेव यज्ञे । सम्-स्त्रावणाः । स्तु स्त्रवे गतौ-णिच्-ल्युट् ।  
युवोरनाकौ । पा० ७ । १ । १ । इति अन आदेशः । अर्श अदिभ्योऽच् । पा० ५ ।  
२ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । हे संस्त्रावेण सम्यक् स्त्रवेण, अर्थात् आर्द्रभावेन युक्ताः ।  
इमम् । उपस्थितं माम् । वर्धयत । वृधु वृद्धौ णिच्-लोट्, वृद्धसि दीर्घः ।

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्या के बल से संसार की उन्नति करते हैं, इससे मनुष्य विद्वानों का सत्संग पाकर सदा अपनी वृद्धि करें और उपकारी जीवों और धन का उपार्जन पूर्ण शक्ति से करते रहें ॥

टिप्पणी—पशु शब्द जीव वाची है, अथर्ववेद का० २ सू० ३४ म० १ ॥

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ॥ १ ॥

जो ( पशुपतिः ) जीवों का स्वामी चौपाये और जो दो पाये ( पशूनाम् ) जीवों का ( ईशे = ईश्वरे ) राजा है ॥ १ ॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।

तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं स स्रावयामसि ॥ ३ ॥

ये । नदीनाम् । संस्र-स्रवन्ति । उत्सासः । सदम् । अक्षिताः ।  
तेभिः । मे । सर्वैः । संस्र-स्रावैः । धनम् । सम् । स्रावयामसि ॥ ३ ॥

भावार्थ—( नदीनाम् ) नाद करनेवाली नदियों के ( ये ) जो ( अक्षिताः ) अक्षय ( उत्सासः ) सोते ( सदम् ) सर्वदा ( संस्रवन्ति ) मिलकर बढ़ते हैं । ( तेभिः सर्वैः ) उन सब ( संस्रावैः ) जल प्रवाहों के साथ ( मे ) अपने ( धनम् ) धनको ( सम् ) उत्तम रीति से ( स्रावयामसि ) हम व्यय करें ॥ ३ ॥

समर्थयत् । गिरः । शृणातिः स्तुतिकर्मा-निरु० ३ । ५ । अर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । गृ शब्दे—कर्मणि क्तिप् । गीर्यन्ते स्तूयन्ते इति गिरः । हे अर्चनीयाः, स्तुत्याः पुरुषाः । आ+एतु । आगच्छतु । पशुः । अर्जिदृशिकम्यमि० । उ० १ । २७ । इति दृशिर् प्रेक्षणं—कु, पश्यादेशः । पशुः पश्यते—निरु० ३ । १६ । प्राणिमात्रम्, जीवः । अथवा । गवाश्वगजादिरूपः । अस्मिन् । मयि, मदीये आत्मनि । तिष्ठतु । निवसतु । रयिः । अच इः । उ० ४ । १३६ । इति रीङ् गती-इ प्रत्ययः । गुणः । यद्वा । रा दानग्रहणयोः-इ प्रत्ययः, युगागमो धातो-ई स्वश्च । धनम् ॥ २ ॥

३—नदीनाम् । १ । ८ । १ । नदनशीलानां सरिताम्, सरस्वतीनाम् ।

सम्-स्रवन्ति । सम्भूय प्रवहन्ति । उत्सासः । उन्दिगुधिकपिभ्यश्च । उ०

भावार्थ—जैसे पर्वतों पर जल के सोते मिलने से वेगवती और उप-  
कारिणी नदियें बनती हैं जो ग्रीष्मऋतु में भी नहीं सूखतीं, इसी प्रकार हम  
सब मिलकर विज्ञान और उत्साह पूर्वक तडित्, अग्नि, वायु, सूर्य, जल,  
पृथिवी आदि पदार्थों से उपकार लेकर अक्षयधन बढ़ावें । और उसे उत्तम  
कर्मों में व्यय करें ॥ ३ ॥

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदु कस्य च ।

तेभिर्मे सर्वैः संस्त्रावैर्धनं सं स्त्रावयामसि ॥ ४ ॥

ये । सर्पिषः । सम्-स्रवन्ति । क्षीरस्य । च । उदु कस्य । च ।  
तेभिः । मे । सर्वैः । सम्-स्त्रावैः । धनम् । सम् । स्त्रावया मसि ॥४॥

भाषार्थ—(सर्पिषः) घृत की (च) और (क्षीरस्य) दूध की (च) और  
(उदकस्य) जलकी (ये) जो धारायें (संस्रवन्ति) मिलकर यह चलतीं हैं ।  
(तैः सर्वैः) उन सब (संस्त्रावैः) धाराओं के साथ (मे) अपने (धनम्) धनको  
( सम् ) उत्तम रीति से ( स्त्रावयामसि ) हम व्यय करें ॥ ४ ॥

३ । ६८ । इति उन्दी क्लेदे—स प्रत्ययः । आञ्जसेरसुक् । पा० । ७ । १ । ५० ।  
इति जसि असुक् आगमः । उत्सः कूपनाम-निघ० ३ । २३ । जलस्रवणस्था-  
नानि, स्रोतांसि । सदम् । सर्वदा, ग्रीष्मादावपि । अक्षिताः । क्षि क्षये-क्त ।  
अक्षीणाः । तेभिः । बहुलंछन्दसि । पा० ७ । १ । १० । इति मिस पेसभावः ।  
तैः । मे । मम = अस्माकम् । एकवचनं बहुवचने । सम्-स्त्रावैः । श्याऽऽव्य-  
धास्रुसंस्त्रवतीण० । पा० ३ । १ । १४१ । इति सम्+स्रु स्रवणे-णप्रत्ययः । अचो  
ञ्जिति । पा० ७ । २ । ११५ । इति वृद्धिः । प्रवाहैः । धनम् । धन धान्ये—अव-  
यद्धा, कृपवृजिमन्दिनिधाजः क्युः । उ० २ । ८१ । इति दुधाञ् धारणपोषणयोः  
क्यु । वित्तम्, सम्पदम् । स्त्रावयामसि । स्रु स्रवणे-णिचि लट्, इदन्तो  
मसिः : पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । स्त्रावयामः, प्रवाहयामः, व्ययं कुर्मः ॥

४—ये । संस्त्रावाः प्रवाहाः । सर्पिषः । अर्चिशुचिदुसृपि० । उ० २ ।  
१०८ । इति स्रुप गतौ = सर्पणे-इसि । सर्पणशीलस्य द्रवणस्वभावस्य घृतस्य ।  
क्षीरस्य—घसेः किच्च । उ० ४।३४ । इति घस = अद भक्षणे-ईरन्, उपधालोपे  
कत्वं षत्वं च । दुग्धस्य । उदकस्य-उदकं च । उ० २ । ३६ । इति उन्दी

भावार्थ—जैसे घी, दूध और जल की बूंद बूंद मिलकर धारें बंध जाती और उपकारी होती हैं, इसी प्रकार हम लोग उद्योग करके थोड़ा थोड़ा संचय करने से बहुत सा विद्या धन और सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके उत्तम कामों में व्यय करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—३ ॥ १ अग्निः , २ वरुणाग्नीन्द्राः, ३—४ सीसं देवता ।

अनुष्टुप् छन्दः ॥

विघ्ननाशनोपदेशः—विघ्न के नाश का उपदेश ॥

येऽमावास्यां ३ रात्रिमुदस्थु ब्राजमत्त्रिणः ।

अग्निस्तुरीये यातुहा से अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥ १ ॥

ये । अमा-वास्याम् । रात्रिम् । उ-त्-अस्थुः । ब्राजम् । अत्त्रिणः ।

अग्निः । तुरीयः । यातु-हा । सः । अस्मभ्यम् । अधि । ब्रवत् ॥ १ ॥

भावार्थ—(ये) वे जो (अत्रिणः) उदर पोषक [ खाऊ लोग ] (अमावा-स्याम्) अमावसी में (रात्रिम्) विश्राम देने वाली रात्रि को (ब्राजम्) गोशालाओं पर [ अथवा समूह के समूह ] (उदस्थुः) चढ़ आये हैं । (सः) वह (तुरीयः) वेगवान् (यातुहा) राजसों का नाश करने वाला (अग्निः) अग्नि [अग्नि सदृश तेजस्वी राजा] (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (अधि) [उन पर] अधिकार जमा कर (ब्रवत्) घोषणा दे ॥ १ ॥

ऋदने-कुन् युवोरनाकौ । पा० ७ । १ । १ । इति अकादेशः । जलस्य । अन्यद् व्याख्यातं म० ॥ ३ ॥

१—अमा-वास्याम् । अमा + वस निवासे-घञ् । अमा साहित्येन चन्द्रार्कयोर्वासो यत्र । पिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीप् । उदा-त्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । अमा-वास्यायां रात्रौ, महान्धकारे । रात्रिम् । राशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४ । ६७ । इति रा दानग्रहणयोः-त्रिप्, ददाति विश्रामं, गृह्णाति श्रमं च । कालाध्वनोरत्यन्त-

भाषार्थ—जो दुष्ट जन अन्धेरी रातों में भोशाला आदि पर धावा करके प्रजा को सत्तावें तो प्रतापी राजा ऐसे राक्षसों से रक्षा करके राज्य भर में शान्ति फैलावे ॥ १ ॥

सीसायाध्याहु वरुणः सीसायाग्निरुपावति ।

सीसं मु इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम् ॥ २ ॥

सीसाय । अधि । आहु । वरुणः । सीसाय । अग्निः । उप । अवति ।

सीसम् । मे । इन्द्रः । प्र । अयच्छत् । तत् । अङ्ग । यातु-चातनम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( वरुणः ) चाहने योग्य, समुद्रादि का जल ( सीसाय ) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति ] के लिये ( अधि ) अधिकार पूर्वक ( आहु ) कहता है, ( अग्निः ) व्यापक, सूर्य, विजुली आदि अग्नि ( सीसाय ) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ ब्रह्मज्ञान ] के लिये ( उप ) समीप रह कर ( अवति ) रक्षा करता है । ( इन्द्रः ) महा प्रतापी परमेश्वर ने ( सीसम् ) बन्धन काटने वाला सामर्थ्य [ ब्रह्मज्ञान ] ( मे ) मुझ को ( प्र-अयच्छत् ) दिया है, ( अङ्ग ) हे भाई ( तत् ) वह सामर्थ्य ( यातुचातनम् ) पीड़नाशक है ॥ २ ॥

संयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । रजनीम् । निशाकाले । उत-अस्थुः ।  
 ष्टा गतिनिवृत्तौ-लुङ् । उत्थितवन्तः, संचरणं कृतवन्तः । ब्राजम् । तस्य  
 समूहः पा० ४ । २ । ३७ । इति व्रज-अण् समूहे, नपुंसकत्वम् । गोष्ठसमूहम् ।  
 अथवा । क्रिया विशेषणम् । व्रजः = समूहः-अण् । अतिसमूहेन । अत्रिणः ।  
 १ । ७ । ३ । अदनशीलाः, स्वार्थिनः, उदरपोषकाः । अग्निः । १ । ६ । २ ।  
 अग्निवत् तेजस्वी राजा । तुरीयः । तुरो वेगः । घञ्छौ च । पा० ४ । ४ ।  
 ११७ । इति तुर-छः प्रत्ययः, तत्रभव इत्यर्थे । वेगवान् । यातुहा । कुवापा-  
 जिमि० उ० १ । १ । इति यत् ताडने - उण् । यातयतीति यातुः, राक्षसः ।  
 बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । ८८ । इति यातूपपदे हन हिंसागत्योः-क्विप् ।  
 राक्षसघातकः । दुष्टनाशकः । अधि । अधिकृत्य, स्वामित्वेन । ब्रधत् ।  
 ब्रून् व्यक्तायां वाचि—लेट् । ब्रूयात् ॥

२—सीसाय । षिञ् बन्धने-क्विप् + पो नाशने-क । पृषोदरादित्वात् तुक् लोपे दीर्घः । सीं सितं बन्धं प्रतिबन्धं स्यति नाशयतीति सीसम् । प्रतिबन्धस्य

भावार्थ—जल, अग्नि, वायु, आदि पदार्थ ईश्वर की आज्ञा से परस्पर मिलकर हमारे लिये बाहिर और भीतर से उपकारी होते हैं । वह ब्रह्मज्ञान प्रत्येक मनुष्य आदि प्राणी को परमेश्वर ने दिया है उस ज्ञान को साक्षात् करके प्राणी दुःखों से छूट कर शारीरिक, आत्मिक और समाजिक आनन्द पाते हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी—( सीस ) शब्द का धात्वर्थ [ पिञ् वांधना—विषप्+पो नाश करना—कप्रत्यय] बन्धन का काटने वाला है । लोक में वस्तु विशेष, सीसा को कहते हैं । सायण भाष्य में ( सीस ) का अर्थ “ नदी के फेन आदि रूप द्रव्यं” और मिफू फ़िथ साहिब ने ( lead ) सीसा धातु विशेष किया है ॥

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्त्रिणः ।

अनेन विश्वा ससहे या ज्ञातानि पिशाच्याः ॥ ३ ॥

इदम् । वि-स्कन्धम् । सह ते । इदम् । बाधते । अत्त्रिणः ।

अनेन । विश्वा । ससहे । या । ज्ञातानि । पिशाच्याः ॥ ३ ॥

भावार्थ—( इदम् ) यह [सामर्थ्य] ( विष्कन्धम् ) विघ्न को ( सहते ) जीतता है । और ( इदम् ) यह ( अत्त्रिणः ) उदरपोषक खाउओं को ( बाधते ) रूढ़ता है । ( अनेन ) इससे ( विश्वा=विश्वानि ) उन सब दुःखों को ( ससहे ) मैं

विघ्नस्य नाशकसामर्थ्याय । ब्रह्मज्ञानप्राप्तये । अधि । अधिकारेण । आह । यूष् व्यक्तायां चान्ति-लट् । प्रवीति । वरुणः । १ । ३ । ३ । वरुणीयं समुद्रावि-  
कलम् । अग्निः । १ । ६ । २ । व्यापकः । सूर्यविद्युदादिरूपोऽग्निः । उप । उपेत्य । अवति । रक्षति । व्याप्नोति । इन्द्रः । १ । २ । ३ । महाप्रतापी पर-  
मेश्वरः । प्र-अयच्छत् । पाप्माध्मास्थाम्नादाण । पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण् दाने—यच्छादेशः—लङ् । प्रादात् । तत् । निर्दिष्टं सीसम् । अङ्ग । सम्बोधने । हे सखे । यातु-चातनम् । कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । यत् ताडने—उण् । चातयति नाशने—निरु० ६ । ३० । पीडानाशकम् । राक्षसनाशकम् ॥

३-इदम् । सीसम् । विस्कन्धम् । वि विकारे+स्कन्दिर् गतिशोपणयोः-  
अच् । वस्य धः । घेः स्कन्देरनिष्ठायाम् । प० ८ । ३ । ७३ । ईव पतवम् यद्वा,

जीतता हं ( या=यानि ) जो ( पिशाच्याः ) मांस खाने वाली [कुवासना] से ( जातानि ) उत्पन्न हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—दूरदर्शी पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम ज्ञान के सामर्थ्य से अपने क्रोधों के कारण को जानते और कुवासनाओं के कुसंस्कारों को अपने हृदय में नहीं जमने देते ॥ ३ ॥

भगवान् पतञ्जलि जी ने कहा है— योगदर्शन पाद २ सूत्र १६ ॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥

न आया हुआ [ परन्तु आने वाला ] दुःख हटाना चाहिये ॥

यदि नो गां हंसि यदश्वं यदि पूरुषम् ।

तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसौ अवीरहा ॥४॥

यदि । नः । गाम् । हंसि । यदि । अश्वम् । यदि । पूरुषम् ।

तम् । त्वा । सीसेन । विध्यामः । यथा । नः । असः । अवीर-हा ॥४॥

भाषार्थ—(यदि) जो (नः) हमारी ( गाम् ) गाय को, (यदि) जो ( अश्वम् )

विष्क हिंसायाम्-क + धाञ्-ड । हिंसां दधातीति । विशेषेण शोषकम् । विघ्नम् वहते । षह अभिभवे । अभिभवति जयति । बाधते । बाध प्रतिबन्धे प्रति-रोधे-लट् । प्रतिबध्नाति, निवारयति । अतित्रयाः । म० १ । अदनस्वभाधान् राक्षसान् । अनेन । सीसेन । ससहे । बहुलं हृन्दसि । पा० २ । ४ । ७६ । इति षह अभिभवे लटि शपः श्लुः । अहम् अभिभवामि । । जातानि । जनी प्रादुर्भावे-कर्त्तरि क्त । उत्पन्नानि । अपत्यरूपाणि दुष्टाचक्षानि । पिशाच्याः । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति पिशित + अश भक्षणे-अण् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०६ । इति रूपसिद्धिः । पिशितं मांसमश्नातीति पिशाचः । अथवा । इगपुधक्षाग्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति पिश अवयवे-क । इति पिशः पिशितम् । पुनः । पिश + आङ् + चमभक्षणे-ङ् प्रत्ययः । पिशं पिशितं मांसम् आचमति सम्यग् भक्षयतीति पि । चः । प्राणिनां मांसभक्षी पिशिताशी । ततो ङीप् । मांसभक्षिण्याः । राक्षसीरूपायाः कुवासनायाः ॥

४--यदि । संभावनायाम् । चेत् । गाम् । १।२।३ । गोजातिम् । हंसि ।

घाड़े को और (यदि)जो (पुरुषम्)पुरुष को (हंसि)तू मारता है । (तम् त्वा) उस तुभको(सीसेन)बन्धन काटनेहारे सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] से (विध्यामः)हमवेधते हैं (यथा) जिस से तू (नः) हमारे (अवीरहा असः) वीरों का नाश करने हारा न होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वर्तमान क्लेशों को देखकर आने वाली क्लेशों को यत्न पूर्वक रोककर आनन्द भोगें ॥४॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥



हन हिंसागत्योः-लट् । मारयसि । नाशयसि । अश्वम् । अश्वेषु लटि० । उ० १ । १५१ । इति अशब्द व्यासौ-क्वन् । यद्वा, अश भोजने-क्वन् । अश्वः कस्माद्धुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति-निरु० २ । २७ । जातावेकधचनम् । घोटम् । तुरङ्गम् । पुरुषम् । पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्रगतौ-कुषन् । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति निपातनाद् दीर्घः । पुरति अग्रे गच्छतीति पुरुषः । नरं, जनम् । तस्म् । तथाविधम् । त्वा । त्वां हिंसकम् । सीसेन । म० २ । विघ्ननाशकसामर्थ्येन, ब्रह्मज्ञानेन । विध्यामः । व्यध ताड़ने वेधे-दिवादित्वात् श्यन् । ग्रहिज्यावयिव्यधि० । पा० ६ । १ । १६ । इति संप्रसारणम् । छिनक्षः । ताड़यामः । मारयामः । यथा । येन प्रकारेण । असः । अस सत्तायाम्-लेटि अडागमः । त्वम् भूयाः । अवीर-हा । वीरयतीति वीरः, वीर शौच्ये-अच् । वीरान् हन्तीति वीरहा, वीर + हन्-क्विप् । न वीरहा अवीरहा । अश्वरहन्ता ॥



## अथ चतुर्थोऽनुवाकः ।



सूक्तम् १७ ॥

१—४ हिरा देवता । १—३ अनुष्टुप् ४ गायत्री छन्दः ॥

नाडीछेदनदृष्टान्तेन कुवासनानाशः—नाडीछेदन [ फसद् गोलने ] के दृष्टान्त से कुवासनाओं के नाश का उपदेश ॥

अमूर्या यन्ति' योषितो' हिरा लोहितवाससः ।

अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हुतवर्चसः ॥ १ ॥

अमूः । या । यन्ति' । योषितः । हिराः । लोहित-वाससः ।

अभ्रातरः—इव । जामयः । तिष्ठन्तु । हुत-वर्चसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अमूः) वे (याः) जो (योषितः) सेवा योग्य वा सेवा करने वाली [ अथवा स्त्रियों के समान हितकारी ] (लोहितवाससः) लोह में ढकी हुयी (हिराः) नाड़ियाँ (यन्ति) चलती हैं, वे, (अभ्रानरः) बिना भाइयों की (जामयः इव) बहिनों के समान, (हुतवर्चसः) निस्तेज होकर (तिष्ठन्तु) ठहर जायें॥१॥

१—अमूः।१।४।२। ताः परिदृश्यमानाः । यन्ति । गच्छन्ति योषितः । हिरुहियुषिभ्य इतिः । उ० १ । ६७ । युष सेवने—इति, अयं सौत्रो धातुः । योषति सेवते युष्यते सेव्यते वा सा योषित् । सेवविध्यः । सेव्याः, । स्त्रियः । हिराः । स्फायितञ्चिश्चकि० । उ० २ । १३ । इति हि वर्धने गतौ च—रक् टाप् । हिनोति वर्धयति वा गच्छति व्याप्नोति शरीररुधिरादिकमिति हिरा, नाडी । सिराः, नाड्यः । लोहित-वाससः । वसेर्णित् । उ० ४ । २६८ । इति लोहित + वस आच्छादने, असुन् । शिद्धज्ञावाद् उपधावृद्धिः । रुधिरस्य आच्छा-

भाषार्थ—इस सूक्त में सिराछेदन, अर्थात् नाड़ी [ फ़सद ] खोलने का वर्णन है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि नाड़ियां रुधिर संचार का मार्ग होने से शरीर की (योपितः) सेवा करने वाली और सेवा योग्य हैं। जब किसी रोग के कारण वैद्य राज नाड़ी छेदन करे और रुधिर निकलने से रोग बढ़ाने में नाड़ियां ऐसी असमर्थ हो जायें जैसे माता पिता और भाइयों के बिना कन्याएँ असहाय हो जाती हैं, तब नाड़ियों को रुधिर बहने से रोक दे।

२—मनुष्य के सब कार्य कुकामनाओं को रोक कर मर्यादापूर्वक करने से सुफल होते हैं ॥ १ ॥

तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे ।

कुनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिह धुमनिर्मही ॥ २ ॥

तिष्ठ । अवरे । तिष्ठ । परे । उत । त्वम् । तिष्ठ । मध्यमे ।  
कुनिष्ठिका । च । तिष्ठति । तिष्ठात् । इत् । धुमनिः । मुही ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अवरे) हे नीचे की [नाड़ी] (तिष्ठ) तू ठहर, (परे) हे ऊपर वाली (तिष्ठ) तू ठहर, (उत) और (मध्यमे) हे बीच वाली (त्वम्) तू (तिष्ठ)

दनभूताः । रक्तवर्णवस्त्राः । अभ्रातरः । नप्तृत्वष्टृ ० । उ० २ । ६६ । इति  
भ्राजृ दीप्तौ-तृन्, निपात्यते । अभ्रातृकाः, सहोदररहिताः, असहायाः इत्यर्थः ।  
जामयः । १ । ४ । १ । भगिन्यः । तिष्ठन्तु । स्थिता निवृत्तगतयो भवन्तु ।  
हत-वर्चसः । सर्वं धातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति वर्च दीप्तौ-असुन् ।  
हततेजस्काः, नष्टवीर्याः । रोगोत्पादने असमर्थाः ॥

२—तिष्ठ । निवृत्तगतिर्भव । अवरे । १ । ८ । ३ । अवर-टाप् । हे निष्कृष्टे ।  
अधोभागस्थिते हिरे । परे । १ । ८ । ३ । हे श्रेष्ठे, ऊर्ध्वाङ्गवर्तिनि । त्वम् ।  
हिरे, सिरे । मध्यमे । मध्यान्मः । पा० ४ । ३ । ८ । मध्य-म प्रत्ययो भवार्थे ।  
हे शरीरमव्यवर्तिनि । कुनिष्ठिका । युवाल्पयोः कन् अन्यतरस्याम् ।  
पा० ५ । ३ । ६४ । इति अल्प-इष्टनि कन् आदेशः । स्वार्थे क प्रत्ययः । प्रत्ययस्थात्  
कात् पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः । पा० ७ । ३ । ४४ । इति इत्वं टापि परतः ।

ठहर, (च) और (कनिष्ठिका) अति छांटी नाड़ी (तिष्ठति) ठहरती है, (मही) बड़ी (धमनिः) नाड़ी (इत्) भी (तिष्ठात्) ठहर जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—१-चिकित्सक सावधानी से सब नाड़ियों को अधिक रुधिर बहने से रोक देवे ॥

२-मनुष्य अपने चित्तकी वृत्तियों को ध्यान देकर कुमार्ग से हटावे, और हड़बड़ी करके अपने कर्तव्य को न बिगड़ने दे किन्तु यत्न पूर्वक सिद्ध करे ॥२॥

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् ।

अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥ ३ ॥

शतस्य । धमनीनाम् । सहस्रस्य । हिराणाम् ।

अस्थुः । इत् । मध्यमाः । इमाः । साकम् । अन्ताः । अरंसत ॥३॥

भाषार्थ—( शतस्य धमनीनाम् ) सौ प्रधान नाड़ियों में से और ( सहस्रस्य हिराणाम् ) सहस्र शाखा नाड़ियों में से ( इमाः ) ये सब ( मध्यमाः ) बीच वाली (इत्) भी (अस्थुः) ठहर गयीं, (अन्ताः) अन्त की [अवशिष्ट नाड़ियां] ( साकम् ) एक साथ ( अरंसत ) फोड़ा करने लगी हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—सिरा छेदन से असंख्य धमनी और सिरा नाड़ियों का रुधिर यथाविधि चिकित्सक निकाल कर बन्ध कर देवे कि नाड़ियां पहिले के समान चेष्टा करने लगे ॥

अल्पतमा, सूक्ष्मतरा नाड़ी । तिष्ठात् । एता गतिनिवृत्तौ-लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । इति आडागमः । अवतिष्ठताम् । धमनिः । अर्त्तिः सुधृधमि० । उ० २ । १० २ । इति धम धमाने, ध्वाने च-अनि । सिरा, नाड़ी । मही । मह पूजायाम्-अच् । पिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति डीप् । महती, बृहती स्थूला ॥

३-शतस्य ।—शतसंख्यानां अपरिमितानाम् । धमनीनाम् । म० २ । हृदयगतानां प्रधान नाड़ीनाम् । सहस्रस्य । अपरिमितानाम् । हिराणाम् । म० १ । सिराणाम् । सूक्ष्मशाखानाडीनाम् । अस्थुः । १।१६।१ स्थिता अभूवन्,

२-मनुष्य अपनी अनन्त चित्त वृत्तियों को कुमार्ग से रोक कर सुमार्ग में चलावे ॥ २ ॥

परि वः सिकतावती धनूर्बृहत्त्यक्रमीत् ।

तिष्ठते लयन्ता सु कम् ॥ ४ ॥

परि । वः । सिकता-वती । धनूः । बृहती । अक्रमीत् ।  
तिष्ठते । लयन्ते । सु । कम् ।

भाषार्थ—(सिकतावती) सेचन स्वभाव [कोमल रखने वाली] वालू आदि से भरी हुई (वृद्धती) बड़ी धनूः पट्टी ने (वः) तुम [नाड़ियों] को (परि अक्रमीत्) लपेट लिया है । (तिष्ठते) ठहर जाओ, (सु) अच्छे प्रकार (कम्) सुख से (इत्यन्त) चलो ॥ ४ ॥

भावार्थ, १—(धनूः) अर्थात् धनु चार हाथ परिमाण को कहते हैं । इसी प्रकार की पट्टी से जो सूक्ष्म चूर्ण वालू से वा वालू के समान राल आदि औषध से युक्त होवे चिकित्सक घाव को बांध देवे कि रक्त बहने से ठहर जाये और घाव पुरकर सब नाड़ियां यथा नियम चलने लगें, मन प्रसन्न और शरीर पुष्ट हो ।

मध्यमाः । म० २ । मध्यभवाः । साकम् । युगपत् । अन्ताः । अम गतौ-तन् । अन्तिमाः, अवशिष्टाः सर्वा नाड्यः । अरंसत । रमु कीड़ायाम्-लुङ्, यथापूर्वं रमन्ते स्म, चेष्टां कृतवन्त्यः ॥

४—वः । युष्मान्, नाड़ीः । सिकतावती । पृथिवीभ्यां कित् । उ०३।१११ । इति सिक सेचने-अतच्-टाप् । सेचनवती, कोमलस्वभावयुक्ता । बालुयुक्ता । धनूः । कृषिचमितनिधनिसर्जिषर्जिभ्य ऊः स्त्रियाम् । उ०१।८० । इति धन धान्योत्पादने, रवे च-ऊ । धनुः=चतुर्हस्तपरिमाणम् । तत्परिमाणवस्त्र-पट्टी । बृहती । वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृचच । उ० २ । ८४ । इति बृह बृद्धौ-अति । ङीप् । महती । अक्रमीत् । कमु पादविक्षेपे-लुङ् । क्रा-

२—मनुष्य कुमार्ग गामिनी मनो वृत्तियों को गोक करयत्न पूर्वक हानि पूरी करे, और लाभ के साथ अपनी वृद्धि करे और आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—४ ॥ सविता देवता । १, ४ अनुष्टुप्, २, ३ जगती ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के लिये धर्म का उपदेश ॥

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं १' निररातिं सुवामसि ।

अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥१॥

निः । लक्ष्यम् । ललाम्यम् । निः । अरातिम् । सुवामसि । अथ ।  
या । भद्रा । तानि । नः । प्र-जायै । अरातिम् । नयामसि ॥१॥

भाषार्थ—(ललाम्यम्=०-मीम्) [धर्म से] रुचि हटाने वाली (निर्लक्ष्म्यम्=०-क्षमीम्) अलक्ष्मी [निर्धनता] और (अरातिम्) शत्रुता को (निः सुवामसि=०-मः) हम निकाल देवें । (अथ) और (या=यानि) जो (भद्रा=भद्राणि) मंगल हैं (तानि) उनको (नः) अपनी (प्रजायै) प्रजाके लिये (अरातिम्) सुख न देने हारे शत्रु से (नयामसि=०-मः) हम लावें ॥ १ ॥

न्तवती, व्यासवती । तिष्ठत । निवृत्तगतयो भवत । हलयत । हल गतौ ।  
गच्छत, चेष्टध्वम् । कम् । सुखेन ॥

१—निः+लक्ष्म्यम् । नृ नये-क्विप् । ऋत इच्छातोः । पा० ७ । १ । १०० ।  
इति धातोरङ्गस्य इत् । इति निर् । लक्ष्मेर्मुट् च । उ०३।१६०। इति लक्ष् दर्शनाङ्क-  
नयोः-ईप्रत्ययो मुडागमः । लक्ष्यते दृश्यते सा लक्ष्मीः । वा छन्दसि । पा० ६ ।  
१।१०६। इति अमि पूर्वरूपाभावे । इको यणचि । पा० ६।१। ७७। इति यण् आदेशः ।  
उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८।२। ४। इति यणः परतोऽनुदात्तस्य  
स्वरितत्वम् । निर्लक्ष्मीम्, अलक्ष्मीम्, निर्धनताम्, दर्भाग्यताम् । लला-  
म्यम् । लल ईप्से-अच् । ततः । अवितृस्तृतन्निभ्य ईः । उ०३।१५८ । इति चाटु-  
लकात्, अम रोगे, पीडने-ईप्रत्ययः । ललम् इच्छां शुभरुचिं आमयति नाशय-

भावार्थ—राजा अपने औरप्रजा की निर्धनता आदि दुर्लक्ष्यों को मिटावे औरशत्रु को दण्ड देकर प्रजा में आनन्द फैलावे ॥ १ ॥

सायण भाष्यमें (लक्ष्म्यम्) के स्थान में [लक्ष्मम्] पाठ है ॥ १ ॥

निररणिं सविता साविषत् पुदोर्निहस्तयोर्वरुणो  
मित्रो अयमा । निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां  
देवा असाविषुः सौभगाय ॥ २ ॥

निः । अरणिम् । सविता । साविषत् । पुदोः । निः । हस्तयोः ।  
वरुणः । मित्रः । अयमा । निः । अस्मभ्यम् । अनु-मतिः ।  
रराणा । प्र । इमाम् । देवाः । असाविषुः । सौभगाय ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—(सविता) [सव का चलाने हारा], सूर्य [सूर्य रूप तेजस्वी],  
(वरुणः) सव के चाहने योग्य जल [जल समान शान्त स्वभाव ], (मित्रः) चेष्टा

तीति ललामीः । पूर्ववत् यण् स्वरित्वं च । ललामीम्, शुभरुचिनाशिनीम् ।  
निर् । नृ नयने-क्लिप्, न दीर्घः । ऋन इडातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति  
इकारः । पतिभावे । निश्चये । अरातिम् । क्तिच्त्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ ।  
३ । १७४ । इति रा दाने-क्तिच् । यद्वा, रा-क्तिन् । न राति ददाति सुखम्, नञ्-  
समासः । सुखस्य अदातारम् शत्रुम् । शत्रुताम्, दुष्टताम् । निः+सुवामसि ।  
पृ प्रेरणे । तुदादिः-लट् । मस इदन्तत्वम् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ ।  
इति उपसर्गस्य व्यवधानम् । निःसुवामः, निःसारयामः । अथ । अनन्तरम् ।  
भद्रा । ऋजेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति भदि कल्याणे-रन् । निपात्यते च ।  
भद्राणि, मङ्गलानि । तानि । उदीरितानि भद्राणि । नः । अस्माकम्, स्वकीया-  
यै । प्र-जायै । उपसर्गो च संज्ञायाम् । पा० ३ । २ । ६६ । इति जनी प्रादुभावे-  
ड प्रत्ययः । जनाय । अरातिम् । शत्रुम् । शत्रुसकाशात् । नयामसि । णीञ्  
प्रापणे, द्विकर्मकः । मस इदन्तत्वम् । प्रापयामः ॥

२—निर् । म० १ । निश्चयेन । नितराम् । वहिभावे । अरणिम् ।  
अर्त्तिमृधु० । उ० २ । १०२ । ऋ हिंसने-अनि । आर्त्तिम्, पीड़ाम् । सविता ।

देने हारा वायु [वायु समान वेगवान् उपकारी], (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने हारा न्यायकारी राजा (अरणिम्) पीड़ा को (पदोः) दोनों पदों और (हस्तयोः) दोनों हाथों से (निः) निरन्तर ( निः साविपत् ) निकाल देवे । (रराणा) दान-शीला (अनुमतिः) अनुकूल बुद्धि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (निः = निः साविपत्) [पीड़ा को] निकाल देवे, (देवाः) उदार चित्त वाले महात्माओं ने (इमाम्) इस [अनुकूल बुद्धि] को (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (प्र असाविपुः) भेजा है॥२॥

**भावार्थ**—मन्त्रोक्त शुभ लक्ष्मियों वाला राजा और प्रजा परस्पर हित-बुद्धि से और शुभचिन्तक महात्माओं के सहाय से क्लेशों का नाश करके सब का ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ २ ॥

**टिप्पणी**—सायण भाष्य में (अरणिम्) के स्थान में [अरणीम्] है और बंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक में लिखे [साविपक्] के स्थान में सायण भाष्य में और अन्य दोनों पुस्तकों में (साविपत्) पद है, वही पाठ हमने रक्खा है। गवर्नमेन्ट पुस्तक में टिप्पणी है कि [साविपक्] शब्द शोधकर लिखा है, परन्तु यह अशुद्ध है क्योंकि अथर्व० ६ । १ । ३ में, ७ । ७७ । ७ में और ६ । १५ । ४ में ( सविता साविपत् ) पाठ है वही ( सविता साविपत् ) यहां भी शुद्ध है ॥

पूज् प्रसवे प्रेरणे-तृच् । सर्वस्य प्रसविता = उत्पादकः । निरु० १० । १ । सर्व-प्रेरकः सूर्यः । निः+साविपत् । पूज् प्रेरणे-लेट् । निःसुवतु, निःसारयतु । पदोः । पदूदननोमास् ० । पा० ६ । १ । ६३ । इति पाद शब्दस्य पद् आदेशः । पादयोः सकाशात् । हस्तयोः । हसिमृत्रिण्वामि० । उ० ३ । ८६ । इति हस विकाशे-तन् । करयोः सकाशात् । वरुणः । १ । ३ । ३ । वरणीयं जलम् । मित्रः । १ । ३ । ३ । सर्वप्रेरको वायुः । अर्यमा । १ । ११ । १ । अर्यान् श्रेष्ठान् मिर्माते मानयतीति । न्यायकारी राजा । अनु-मतिः । अनु + मन क्षाने-क्तिन् । सम्म-तिः । अनुकूला, सहायिका बुद्धिः । रराणा । रा दाने- कानच् । दानशीला । देवाः । पूज्याः, दातारः । प्र+असाविपुः । पूज् प्रेरणे-लुङ् । प्रेरितवन्तः, दत्तवन्तः । सौभगाय । प्राणभृज्जानिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् । पा० ५ । १ । १२६ । इति सुभग-भावे अञ् । जिन्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १६७ । इति आद्युदात्तः । सुभगत्वाय, शोभनैश्वर्याय ॥

यत्त' आत्मनि तुन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्ष'णे  
वा । सर्वं तद्वाचापं हन्मो वयं देवस्त्वा सविता  
सूदयतु ॥ ३ ॥

यत् । ते । आत्मनि । तुन्वास् । घोरम् । अस्ति । यत् । वा ।  
केशेषु । प्रति-चक्षणे । वा । सर्वम् । तत् । वाचा । अप ।  
हन्मः । वयम् । देवः । त्वा । सविता । सूदयतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ]! ( यत् ) जो कुछ ( ते ) तेरे ( आत्मनि ) आत्मा  
में और ( नन्वाम् ) शरीर में ( वा ) अथवा ( यत् ) जो कुछ ( केशेषु ) केशों में  
( वा ) अथवा ( प्रतिचक्षणे ) दृष्टि में ( घोरम् ) भयानक ( अस्ति ) है । ( वयम् )  
हम ( तत् सर्वम् ) उस सबको ( वाचा ) वाणी से [ विद्यावल से ] ( अप )  
हटाकर ( हन्मः ) मिटाये देते हैं । ( देवः ) दिव्य स्वरूप ( सविता ) सर्वप्रेरक  
परमेश्वर ( त्वा ) तुझ को ( सूदयतु ) अंगीकार करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दुर्गुणों और दुर्ल-  
क्षणों को विद्वानों के उपदेश और सत्सङ्ग से छोड़ देता है, परमेश्वर उसे अपना  
करके अनेक सामर्थ्य देता और आनन्दित करता है ॥ ३ ॥

३—आत्मनि । सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । इति अत  
सातत्यगमने—मनिण् । अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोतीति आत्मा । स्व-  
भावे, मनसि, जीवे । तन्वास् । १।१।१। शरीरे, देहे । घोरम् । हन्तेरच्  
घुरच् । उ० ५ । ६४ । इति हन् वधे—अच्, घुरादेशः । हन्ति विनाशयतीति ।  
भयंकरं दुर्लक्षणम् । केशेषु । के मस्तके शेषे । शीङ् शयने—अच् । अलुक्-  
समासः । अथवा । क्लिशोरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । इति क्लिश उपतापे-  
अन्, ल लोपः । घालेषु, शिरोरुहेषु । प्रति-चक्षणे । चण्टे, पश्यति कर्मा-  
निघ० ३ । ११ । चक्षिङ् कथने, दर्शने च-करणे ल्युट् । दर्शनसाधने चक्षुषि ।  
वाचा । १।१।१। वाण्या । सरस्वतीद्वारा । विद्याद्वारा । अप । वर्जयित्वा ।  
हन्मः । नाशयामः । वयम् । उपासकाः । त्वा । त्वाम् आत्मानम् ।  
सविता । सर्वप्रेरकः । सर्वपिता परमात्मा । सूदयतु । पूद आश्रुतिहृत्योः-  
लोट्, आश्रुतिरङ्गोकारः आश्रुणोतु, अङ्गीकरोतु ॥



रिश्यपदुं वृषदतीं गोषेधां विधुमामुत ।

विलीढ्यं ललाम्यं १ ता अस्मन्नाशयामसि ॥४॥

रिश्य-पदीम् । वृष-दतीम् । गो-सेधाम् । वि-धुमास् । उत ।  
विलीढ्यम् । ललाम्यम् । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( रिश्यपदीम् ) हरिण के समान [ बिना जमाये शीघ्र ] पद की चेष्टा, ( वृषदतीम् ) बैल के समान दांत चबाना. ( गोषेधाम् ) बैल की सी चाल, ( उत ) और ( विधुमाम् ) विमड़ी भारी [ धौंकनी ] के समान श्वास क्रिया, ( ललाम्यम्=०-मीम् ) रुचि नाश करने हारी ( विलीढ्यम्=०-ढिम् ) चाटने की बुरी प्रकृति, ( ताः ) इन सब [ कुचेष्टाओं ] को ( अस्मत् ) अपने से ( नाशयामसि=०-मः ) हम नाश करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष मनुष्यस्वभाव से विरुद्ध कुचेष्टाओं को छोड़ कर विद्वानों के सदसङ्ग से सुन्दर स्वभाव बनावें और मनुष्य जन्म को सुफल करके आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में ( रिश्यपदीम् ) के स्थान में ( ऋग्यपदीम् ) पाठ है । और जो ( विलीढ्यम्, ललाम्यम् ) पदों को नपुंसक लिङ्ग माना है वह

४—रिश्य-पदीम् । रिश हिंसे-कप् । रिश्यते हिंरयते—इति रिश्यः. मृगः । पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः । पा० ५। ४। १३८ । इति पादस्य अन्त्यलोपः । पादोऽन्यतरस्याम् । पा० ४। १। ८ । इति ङीप्, भसंज्ञायां । पादः पत् । पा० ६। ४। १३० । इति पद्भावः । हरिणपदवत् गतिं कुचेष्टाम् । वृष-दतीम् । अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च । पा० ५। ४। १४५ । इति दन्त शब्दस्य दत् आदेशः । षगितश्च । पा० ४। १। ६ । इति ङीप् । वृषदन्तवत् क्रियायुक्तां कुचेष्टाम् । गो-सेधाम् । पिधु गत्याम्—पचाद्यच् । टाप् । वृषभवद् गतिं चेष्टाम् वि-धुमाम् । वि विकृतौ + ध्मा, धम वा, दीर्घश्वासहेतुके शब्दभेदे-अच् । टाप् । विधुमावद् विकृतभस्त्रावत् श्वासक्रियाम् । विलीढ्यम् । वि विकृतौ + लिह आस्त्रादने + क्तिन् । वा छन्दसि । पा० ६। १। १०६ । इति अमि पूर्वरूपाभावे । इको यणचि । पा० ६। १। ७७ । इति यण् आदेशः । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८। २। ४ । इति यणः परतोऽनुदात्तस्यस्वरितः ।

अशुद्ध है क्योंकि मन्त्र में ( ताः ) खीलिङ्ग सर्वनाम होने से ऊपर के सब छह पद खीलिङ्ग हैं ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-४॥ इन्द्रो देवता ॥ जयन्यायौ । १,२,४ अनुष्टुप् , ३पङ्क्तिः ।

जयन्यायोपदेशः—जय और न्याय का उपदेश ॥

मा नो विदन् विव्याधनो मो अभिव्याधिनो विदन् ।

आराच्छरव्या अस्मद् विषूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

मा । नः । विदन् । वि-व्याधिनः । मो इति । अभि-व्याधिनः ।  
विदन् । आरात् । शरव्याः । अस्मत् । विषूचीः । इन्द्र । पातय ॥४॥

भाषार्थ—(विव्याधिनः) अत्यन्त वेधने हारे शत्रु (नः) हम तक (मा विदन्) न पहुँचें, और (अभिव्याधिनः) चारों ओर से मारने हारे (मो विदन्) कभी न पहुँचें। (इन्द्र) हे परम पेशवर्य वाले राजन् (विषूचीः) सब ओर फैले हुए (शरव्याः) वाले समूहों को (अस्मत्) हम से (आरात्) दूर (पातय) गिरा ॥१॥

विलीङ्गिम्, विकृतास्वादनचेष्टाम् । ललाम्यम् । म० १ । ललामीम्, रुचि-  
नाशिनीम् । ताः । पूर्वोक्ताः कुचेष्टाः । नाशयामसि । एष अदर्शने—णिच् ।  
मस इदन्तत्वम् । नाशयामः, दूरीकुर्मः ॥

१—नः । अस्मान् । मा+विदन् । विदल्ल लाभे;माङि लुङि । न माङ्-  
योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इति अङभावः । मा लभन्ताम्, वि-व्याधिनः ।  
मुप्यजातौ णिनिस्ताच्छीत्ये । पा० ३ । २ । ७८ । इति वि+व्यधताडने-णिनिः ।  
विशेषेण छेदकाः, धनुर्धराः । मो । मा+उ । मैव , अभि-व्याधिनः ।  
पूर्ववद् णिनिः । आघातकाः, सर्वतो हननकर्तारः । मो विदन् । मैव प्राप्नु-  
यन्तु स्पृशन्तु । आरात् । दूरदेशे । शरव्याः । शृश्वस्निहिन्नप्यसि० । उ०  
१ । १० । इति शृ हिंसे-उ प्रत्ययः । उगवादिभ्यो यत् । पा० ५ । १ । २ । इति  
शक्-यत् समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये ।

भाष्यार्थ—सर्व रक्षक जगदीश्वर पर पूर्ण श्रद्धा करके चतुर सेनापति अपनी सेना को रणक्षेत्र में इस प्रकार खड़ा करे कि शत्रु लोग पास न आसकें और न उनके अस्त्र शस्त्रों के प्रहार किसी के लगें ॥ १ ॥

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।

दैवीर्मनुष्येष्वो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥

विष्वञ्चः । अस्मत् । शरवः । पतन्तु । ये । अस्ताः । ये । च । आस्याः ।

दैवीः । मनुष्य-इष्वः । मम । मित्रान् । वि । विध्यत ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—(ये) जो वाण (अस्ताः) छोड़े गये हैं (च) और (ये जो (आस्याः) छोड़े जायेंगे (विष्वञ्चः) [वे] सब ओर फैले हुये (शरवः) वाण (अस्मत्) हम से [दूर] (पतन्तु) गिरें । (दैवीः मनुष्येष्वः) हे [हमारे] मनुष्यों के दिव्य वाणों ! [ वाण चलाने वाले तुम ] (मम) मेरे (मित्रान्) पीड़ा देने हारे शत्रुओं को (विविध्यत) छेद डालो ॥ २ ॥

पा० ६ । १ । ७६ । इति अक् आदेशः । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । ८५ । इति स्वरितः । शरुसमूहान् शरसंहतीः । अस्मत् । अन्यारादितरते ० । पा० २ । ३ । २६ । इति आरात् योगे पञ्चमी । अस्मत्तः । विषूचीः । ऋत्विग्दधृक्स्त्रिदि-  
गुष्णिगञ्चु० । पा० ३ । २ । ५६ । इति विष् + अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । अनदिताम्० । पा० ६ । ४ । २४ । इति न लोपः । अञ्चेश्चोपसंख्यानम् । वा० पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । इति अकारलोपे । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति दीर्घः । विष्वक् नानामुखम् अञ्चनशीलाः । सर्वत्रव्यापिनीः । इन्द्र । हे परमेश्वर । पातय । पत-णिच् । प्रक्षिप ॥

२—विष्वञ्चः । म० १ । विष् + अञ्चु-क्विन् । विविधगमनाः । शरवः । म० १ । श्वस्वस्निहि । उ० १ । १० । इति श्व हिंसायाम्-उ । वाणाः । अस्त्रश-  
स्त्राणि । पतन्तु । निपतन्तु अधोगच्छन्तु । अस्ताः । असु क्षेपणे-क्त । क्षिप्ताः, विनिर्मुक्ताः । आस्याः । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति असु क्षेपणे-ण्यत् । क्षेपणीयाः । दैवीः । देवाद् यञञौ । वार्त्तिकम्, पा०

भावार्थ—सेनापति इस प्रकार अपनी सेना का व्यूह करे कि शत्रुओं के अस्त्र शस्त्र जो चल चुके हैं अथवा चलें वे सेना के न लगें और उस निपुण सेनापति के योद्धाओं के (दैवीः) दिव्य अर्थात् आग्नेय [अग्निवाण] और वारुणेय [जलवाण जो बन्दूक आदि जल में वा जल से छोड़े जावें] अस्त्र शत्रुओं को निरन्तर छेद डालें ॥ २ ॥

इस मन्त्र में वर्तमान काल का अभाव है क्योंकि वह अति सूक्ष्म और वेगवान् है और मनुष्यों को अगम्य है ।

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ठ्यो यो  
अस्माँ अभिदासति । रुद्रः शूरव्ययैतान् ममा-  
मित्रान् वि विध्यतु ॥ ३ ॥

यः । नः । स्वः । यः । अरणः । स-जातः । उत । निष्ठ्यः ।  
यः । अस्मान् । अभि-दासति । रुद्रः । शूरव्यया । एतान् ।  
मम । मित्रान् । वि । विध्यतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (नः) हमारी (स्वः)जाति वाला अथवा (यः) जो (अरणः)  
न बोलने योग्य शत्रु वा विदेशी, अथवा ( सजातः ) कुटुम्बी ( उत ) अथवा

४ । १ । ८५ । इति देव-अञ्, देवस्य इयमित्यर्थे । टिड्ढाणञ् ० । पा० ४ । १ । १५  
इति ङीप् । वा छन्दसि पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । जिन-  
त्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १६७ । इति आद्युदात्तः । दिव्याः । आग्नेय-  
वारुणादयो वाणाः । सनुष्य-इषवः । मनोजातावज्यतौ पुक्च । पा०  
४ । १ । १६१ । इति मनु-यत् अपत्यार्थे, पुगागमश्च । मनोरपत्यम् मनुष्यः, मनुजः,  
मानवः । इप गतौ-उ । इपुः, वाणः । मनुष्याणाम् अस्मदीयानाम् इषवः, वाणाः,  
अस्त्रशस्त्राणि । मम । मदीयान् । मित्रान् । अमेर्द्धिषति चित् । उ० ४ । १७४ ।  
इति अम रोगे, पीडने-इत्रच् । पीडकान् शत्रून् । वि । विविधम् । विध्यत ।  
व्यध ताडने वेधने-लोट् । छिन्त, भिन्त ॥

३-स्वः । स्वनशब्दे-ङ । ज्ञातिः । अरणः । वशिरण्योरप्युपसंख्यानम् ।  
वार्तिकम्, पा० ३ । ३ । ५८ । इति रण शब्दे-कर्मणि अप् । नञ् समासः ।

(यः) जो ( निष्ट्यः ) वर्णसङ्कर नीच (अस्मान्) हम पर (अभिदासति) चढ़ाई करे (रुद्रः) शत्रुओं को रक्ताने वाला महा शूर वीर सेनापति (शरव्यया) बाणों के समूह से (मम) मेरे (एतान्) इन (अमित्रान्) पीड़ा देने वाले वैश्यों को (विविध्यतु) छेद डाले ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को अपने और पराये का पक्षपात छोड़ कर दुष्टों को यथोचित दण्ड देकर राज्य में शान्ति रखनी चाहिये ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्थ ऋ० ६। ७५। १६ में कुछ भेद से है ॥ ३ ॥

यः सुपत्नो योऽसंपत्नो यश्च द्विपन् क्षपाति नः ।

देवास्त सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

यः । सु-पत्नः । यः । असंपत्नः । यः । च । द्विपन् । क्षपाति । नः ।

देवाः । तस् । सर्वे । धूर्वन्तु । ब्रह्म । वर्म । मम । अन्तरम् ॥ ४ ॥

अरणीयः, असंभाष्यः । विदेशी जनः । शत्रुः । सजातः । १।६।३ । समान-जन्मा, स्वकुटुम्बी । निष्ट्यः । अव्ययात् त्यप् । पा० ४।२ । १०४ । अत्र । निस्रो गते । इति चार्तिकेन । निस्-त्यप् गतार्थे । ह्रस्वात् तादौ तद्धिते । पा० ८ । ३।१०१ । इति पञ्चम् । निर्गनो वर्णाश्रमेभ्यो यः । चाण्डालः, म्लेच्छः । अस्मान् । आशाकारिणो धार्मिकान् । अभिदासति । दसु उत्क्षेपे, लेट् उत्क्षि-पेत् । अस्माँ अभिदासति । दीर्घादिति समानपादे । पा० ८।३।६ । इति संहि-तायां नकारस्य रुत्वम् । आतोऽति नित्यम् । पा० ८।३।३ । इति आकारस्य अनुना-सिकः । रुद्रः । रोदेर्णिलुक् च । उ० २ । २२ । इति रुदिर अश्रुविमोचने पयन्तात् रक् प्रत्ययः, णिलुक् च । रोदयति शत्रुनिति । महाशूरः सेनापतिः । शरव्यया । म० १ । पाशादिभ्यो यः । पा० ४।२ । ४६ । इति शरु-यप्रत्ययः समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६ । ४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६ । १।७६ । इति अव् आदेशः । टाप् च । इति शरव्या तथा शरसंहत्या । अमित्रान् । म० २ । हिंसकान् शत्रून् । विध्यतु । म० २ । विशेषेण द्विनस्तु भिनस्तु ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (सपत्नः) प्रतिपत्नी और (यः) जो (असपत्नः) प्रकट प्रतिपत्नी नहीं है (च) और (यः) जो (द्विषन्) द्वेष करता हुआ (नः) हमको (शपाति) कोसे [क्रोशे] । ( सर्वे ) सब (देवाः) विजयी महात्मा (तम्) उसको (धूर्वन्तु) नाश करें, (ब्रह्म) परमेश्वर, (वर्म) कवच रूप (मम) मेरे (अन्तरम्) भीतर है ॥ ४ ॥

भावार्थ—ज्ञान बीज करके प्रकट और अप्रकट प्रतिपत्तियों और अनिष्ट-चिन्तकों को (देवाः) शूरवीर विद्वान् महात्मा नाश कर डालें । वह परब्रह्म सर्वरक्षक, कवच रूप होकर, धर्मात्माओं के रोम रोम में भर रहा है वही आत्म बल देकर युद्ध क्षेत्र में सदा उनकी रक्षा करता है ॥ ४ ॥

मन्त्र का उत्तरार्ध ऋ० ६ । ७५ । १६ । है ॥

सूक्तम् २० ॥

१—४ ॥ सोमो मरुतश्च देवताः । १ जगती, २—४ अनुष्टुप् ॥

शत्रुभ्यो रक्षणोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा का उपदेश ॥

अदारसृष्ट भवतु देव सोमास्मिन् युज्ञे मरुतो मुडता  
नः । मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मानो विदद  
वृजिना द्वेष्ट्या या ॥ १ ॥

अदार-सृष्ट । भवतु । देव । सोम । अस्मिन् । युज्ञे । मरुतः ।  
मुडता । नः । मा । नः । विदत् । अभि-भाः । मो इति । अशस्तिः ।  
मा । नः । विदत् । वृजिना । द्वेष्ट्या । या । ॥ १ ॥

४—सपत्नः । १ । ६ । २ । प्रतियोगी, शत्रुः । असपत्नः । अशत्रुः, अप्र-  
कटशत्रुः । द्विषन् । द्विष अप्रोतौ-शत्रु । द्वेषं कुर्वन् । शपाति । शप आक्रोशे-  
तेट् । शपेन् । देवाः । दीप्यमानाः । विजयिनः । शूराः । धूर्वन्तु । धूर्वी  
हिंसायाम् । हिंसन्तु । नाशयन्तु । ब्रह्म । १ । १० । ४ । परमेश्वरः । वर्म ।  
सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति वृश्-मनिन् वृणोति आच्छादयति  
शरीरमिति । तनुवम्, सवर्था रक्षकम् । अन्तरम् । यदन्ते समीपे रमते ।  
अन्त + रम-ड । अन्तरात्मा । आभ्यान्तरं मध्ये भवम् ॥

भाषार्थ—(देव)हे प्रकाश मय, (सोम) उत्पन्न करने वाले परमेश्वर ! [वह शत्रु] (अदारसृत्) डर का न पहुँचाने वाला अथवा अपने स्त्री आदि के पास न पहुँचने वाला (भवतु) होवे, (मरुतः) हे [शत्रुओं के] मारने वाले देवताओं ! (अस्मिन्) इस (यज्ञे) पूजनीय काम में ( नः ) हम पर ( मृडत ) अनुग्रह करो । ( अभिभाः ) सन्मुख चमकती हुई, आपत्ति ( नः ) हम पर ( मा विदत् ) न आ पड़े, और (मो = माउ) न कभी (अशस्तिः) अपकीर्ति और (या) जो (द्वेष्या) द्वेषयुक्त (वृजा) पाप बुद्धि है [वह भी] (नः)हम पर (मा विदत्) न आ पड़े ॥१॥

भावार्थ —सब मनुष्य परमेश्वर के सहाय से शत्रुओं को निर्वल कर दें अथवा घर वालों से अलग रखें और विद्वान् शूरादीनों से भी सम्मति लेवें जिस से प्रत्येक विपत्ति, अपकीर्ति और कुमति हट जाय और निर्विघ्न अभीष्ट सिद्ध होवे ॥ १ ॥

मरुत् देवताओं के विजुली आदि के विमान हैं, इस पर वैज्ञानिकों को विशेष ध्यान देना चाहिये—ऋग्वेद १ । ८८ । १ । में वर्णन है ॥

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैः रथैर्भिर्यात ऋष्टिमद्भि-  
रूश्वपणैः । आवर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्रता  
सुमायाः ॥ १ ॥

( मरुतः ) हे शूर महात्माओ ! ( विद्युन्मद्भिः ) विजुली वाले, ( स्वर्कैः )

१—अदारसृत् । दारजारौ कर्तरि णिलुक् च । वार्तिकम् । पा० ३ । ३ । २० । इति दृ विदारणे-णिच्-घञ् । णिलुक् च । सृ गतौ-णिचि क्तिप् । दारं दारं भयं सारयतीति दारसृत् । न दारसृत् अदारसृत् अभयप्रापकः, अहानिकरः । अथवा दारयन्ति दुःखनि विदारयन्ति यास्ताः स्त्रियः । स्र्यादिगृहस्थाः । दार + सृ-क्तिप् । अगृहगामी । देव । हे दीप्यमान ! सोम । १ । ६ । २ । हे सर्वोत्पादक परमेश्वर ! यज्ञे । १ । ६ । ४ । पूज्यकर्मणि यागे, अध्वरे । मरुतः । मृगो-रुतिः । उ० १ । ६४ । इति मृज् प्राणत्यागे-उति । मारयन्ति नाशयन्ति दुष्टान् दुर्गन्धादिदुर्गुणान् वा ते मरुतः, देवाः । वायुः । ऋत्विजः-निघ० ३ । १८ । मरुत् हिरण्य-नाम-निघ० १ । २ । हे शूरवीरा देवाः । मृडत । मृड-सुखने-लोट् मृडयत, सुखयत । नः । अस्मान् [त्रिवारं वर्तते] मा विदत् । १ । १६ । १ । विद्वल्

अच्छी ज्वाला वाले [ वा अच्छे विचारों से बनाये गये ] ( ऋष्टिमद्भिः ) दो-  
धारा तलवारों वाले [आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे चलाने की कलाओं  
वाले] (रथेभिः) रथों से (आयात) तुम आओ, और (सुमायाः) हे उत्तम बुद्धि  
वाले ! (नः) हमारे लिये (वर्षिष्ठया) अति उत्तम (इषा) अन्न के साथ (वस्त्र-  
पक्षियों के समान् (आपतत) उड़ कर चले आओ ॥

यो अ॒द्य से॒न्यो व॒धोऽघ्रा॒यूना॑मुदीर॑ते ॥ २ ॥  
यु॒वं तं मि॒त्रावरु॑णाव॒स्मद् याव॑यत् परि ॥ २ ॥

यः । अद्य । सेन्यः । वधः । अघ-यूनाम् । उत्-दीरते ।  
युवम् । तम् । मित्रावरुणौ । अस्मत् । यावयतम् । परि ॥ २ ॥

भाषार्थ—( अद्य ) आज ( अघायूनाम् ) बुरा चीतने वाले शत्रुओं की  
( सेन्यः ) सेना का चलाया हुआ ( यः ) जो ( वधः ) शस्त्र प्रहार ( उदीरते )  
उठ रहा है । ( मित्रावरुणौ ) हे [ हमारे ] प्राण और अपान ( युवम् ) तुम  
दोनों ( तम् ) उस [ शस्त्र प्रहार ] को ( अस्मत् ) हम लोगों से ( परि ) सर्वथा  
( यावयतम् ) अलग रक्खो ॥ २ ॥

लाभे-लुङ् । मालभताम् । मा प्राप्तांतु । अभि-भाः । अभि, धर्षणे, आभिमुख्ये  
वा + भा दीप्ता-क्विप् । अभिभूय भाति दीप्यते । अभिभाः = अभिभूतिः - निरु०  
मात्रा परोपद्रवः । आपत्तिः । सो । मा-उ । मैव । अशस्तिः । शंसु स्तुतौ-क्तिन् ।  
अकीर्तिः । वृजिना । वृजेः क्तिच् । उ०२ । ४७ इति वृजी वर्जने-इनच्  
स च कित्, टाप् । यद्वा । अर्श आदिभ्योऽच् । पा०५ । २ । १२७ । इति वृजन-  
अस्यर्थे अच् टाप् च । वृजनं पापमस्यामस्तीति वृजना । वक्रा, कुटिला, पाप-  
बुद्धिः । द्वेष्ट्या । ऋहलोर्थत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति द्विष अप्रीतौ-कर्मणि  
एयत् । द्वेषणीया, अप्रीता ॥

२—अद्य । १ । १ । १ । वर्तमाने दिने । सेन्यः । भवे छन्दसि । पा०४ । ४ ।  
११० । इति सेना-यत् । सेनायां भवः । वधः । हनश्च वधः । पा० ३ । ३ । ६७ ।  
इति हन हिंसागत्याः—अप्, वधादेशः । हननसाधनः, शस्त्रप्रहारः । अघा-



भावार्थ—(मित्रावरुणौ) का अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती ने [ य० २ । ३ ] प्राण और अपान किया है । जो वायु शरीर के भीतर जाता है वह प्राण और जो बाहिर निकलता है वह अपान कहाता है । जिस समय युद्ध में शत्रु सेना आ दबावे उस समय अपने प्राण और अपान वायु को यथायोग्य सम रखकर और सचेत होकर शरीर में बल बढ़ाकर सैन्यक लोग युद्ध करें, तो शत्रुओं पर शीघ्र जीत पावें ॥

२—श्वास के साधने से मनुष्य स्वस्थ और बलवान् होते हैं ॥

३—प्राण और अपान के समान उपकारी और बलवान् होकर योद्धा लोग परस्पर रक्षा करें ॥

इतश्च यदमुतश्च यद् वधं वरुण यावय ।

वि मुहच्छर्मं यच्छु वरीयो यावया वधम् ॥ ३ ॥

इतः । च । यत् । अमुतः । च । यत् । वधम् । वरुण । यवय ।

वि । मुहत् । शर्म । यच्छु । वरीयः । यवय । वधम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ— ( वरुण ) हे सब में श्रेष्ठ, परमेश्वर ! ( इतः च ) इस दिशा से ( च ) और ( अमुतः ) उस दिशा से ( यत् यत् ) प्रत्येक ( वधम् ) शत्रु

यूनाम् । अघ पापकरणे-अच् । अघम्, पापम् । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इत्यत्र । छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम् । वार्त्तिकम् । इति अघ-क्यच् । क्यच् छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० इति उ प्रत्ययः । अश्वाघस्यात् । पा० ७ । ४ । ३७ । इति आत्वम् । पापेच्छूनाम् । दुराचारिणाम् । उत्-ईरते । ईर गतौ । उद्गच्छति, उत्तिष्ठति । युवम् । युवाम् । मित्रावरुणौ । १ । ३ । २, ३ । मित्रश्च वरुणश्च । देवता द्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति पूर्व पदस्य आनङ् आदेशः । प्राणापानौ । यावयतम् । यु मिश्रणामिश्रणयोः—एयन्तात् लोट् । वियोजयतम्, पृथक् कुरुतम् ।

३—इतः । पञ्चम्यास्तसिल् । पा० ५ । ३ । ७ । इति इदम्-तसिल् । अस्मात् स्थानात् । अमुतः । अदस्—तसिल् पूर्ववत् । तस्माद् देशात् । यत् यत् । इति अव्ययद्वयम् । प्रत्येकं वधं यः कश्चिद् भवेत् इत्यर्थः । वधम् ।

प्रहार को ( यावय ) हटा दे । ( महत् ) [ अपनी ] बड़ी ( शर्म ) शरणा को ( वि ) अनेक प्रकार से ( यच्छ ) [ हमें ] दान कर, और ( वधम् ) [ शत्रुओं के ] प्रहार को ( वरीयः ) बहुत दूर ( यावय ) फेंक दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सेनापति ईश्वर पर विश्वास करके अपनी सेना को प्रयत्नपूर्वक शत्रु के प्रहार से बचाता और उन में वैरी को जीतने का उत्साह बढ़ाता है । वह शूरवीर जीत पाकर आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

मन्त्र का पिछला आधा ऋ० १० । १५२ । ५ । का दूसरा आधा है, वहाँ ( महत् ) के स्थान में [ मन्योः ] शब्द है ॥

शास इत्या मुह्यँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः ।

न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ ४ ॥

शासः । इत्या । मुहान् । असि । अमित्र-सहः । अस्तृतः ।

न । यस्य । हन्यते । सखा । न । जीयते । कदा । चन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इत्या) सत्य सत्य (महान्) बड़ा (शासः) शासनकर्ता (अमित्र-साहः) शत्रुओं को हराने द्वारा और (अस्तृतः) कभी न हारने द्वारा (असि) तू है । (यस्य) जिसका (सखा) मित्र (कदा चन) कभी भी (न) न (हन्यते) मारा जाता है और (न) न (जीयते) जीता जाता है ॥ ४ ॥

म० २ । शस्त्रप्रहारम् । वरुण । १ । ३ । ३ । हे वरणीय, परमेश्वर । यावय । म० २ । वियोजय । महत् । १ । १० । ४ । विपुलं विस्तीर्णम् । शर्म । सर्व-धातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति शृ हिंसायाम्-मनिन् । स्वशरणम्, सुखम् । वि । विशेषेण । यच्छ । पात्राध्मास्थाम्ना० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण्—दाने-यच्छादेशः । देहि । वरीयः । १ । २ । १ । उरुतरम् विस्तीर्णतरम्, दूरतरम् ॥

४—शासः । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच् । पा० ३ । १ । १३४ । इति शागु अनुशिष्टी-पचाद्यच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । शासकः, नियन्ता, वरुणः । इत्या । सत्यनाम, निघ० ३ । १० । सत्यम् । महान् । १ । १० । ४ । सर्वोत्कृष्टः । मुह्यँअसि । इत्यत्र संहितायाम् ।

भावार्थ—वह परमात्मा (वरुण) सर्व शक्तिमान् शत्रुनाशक है इस प्रकार श्रद्धा करके जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक, आन्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल बढ़ाते रहते हैं वह ईश्वर के भक्त दृढ़ विश्वासी अपने शत्रुओं पर सदा जय प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १५२ । १ में है ॥

सूक्तम् २१ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ८×४ अक्षराणि ॥

राजनीतिस्वस्तिस्थापनोपदेशः—राजनीति और शान्ति स्थापन का उपदेश ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वृशी ।

वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकुरः ॥ १ ॥

स्वस्ति-दाः । विशाम् । पतिः । वृत्र-हा । वि-मृधः । वृशी ।

वृषा । इन्द्रः । पुरः । एतु । नः । सोम-पाः । अभयम्-कुरः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( स्वस्तिदाः ) मंगल का देने हारा, ( विशाम् ) प्रजाओं का ( पतिः ) पालने हारा ( वृत्रहा ) अन्धकार मिटाने हारा ( विमृधः ) शत्रुओं

दीर्घादिति समानपादे । पा० ८ । ३ । ६ । इति नकारस्य कृत्वम् । आनोऽटिनिन्यम् । पा० ८ । ३ । ३ । इति अकारस्य अनुनासिकः । अमित्र-सहः । अमेद्धि-पति चित् । उ० ४ । १७४ । इति अम रोगे पीडने-इत्रच् । पृह अभिभवे-पचाद्यच् । चितः । पा० । ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । अमित्राणां शत्रूणां सोढा, अभिभविता । अस्तृतः । स्तृञ् हिंसायाम्-कर्मणि क्त । अहिंसितः । न । निषेधे यस्य । वरुणस्य । हन्यते । सार्वधातुके यक् । पा० २ । १ । ६७ । इति कर्मणि यक् । हिंस्यते । अभिभूयते । सखा । समाने ख्यः स चोदात्तः । उ० ४ । १३७ । इति समान + ख्या प्रसिद्धौ कथने च-इन् । टिलोपयलोपो समानस्य सभावश्च । अनङ् सौ । पा० ७ । १ । ६३ । इति अनङ् । मित्रम्, सुहृद् । जीयते । जि जये-पूर्ववद् यक् । अभिभूयते । कदा । कस्मिन् काले । चन । अपि ॥

१—स्वस्तिदाः । सावसेः । उ० ४ । १८१ । इति सु+अस सत्तायाम्-

को ( वशी ) वश में करने हारा ( वृषा ) महा बलवान् ( सोमपाः ) अमृत रस का पीने हारा ( अभयंकरः ) अभय दान करने हारा ( इन्द्रः ) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा ( नः ) हमारे ( पुरः ) आगे आगे ( एतु ) चले ॥ १ ॥

**भावार्थ—**जो मनुष्य उपरोक्त गुणों से युक्त राजा को अपना अगुआ बनाते हैं, वे अपने सब कामों में विजय पाते हैं ।

२—वह जगदीश्वर सब राजा महाराजाओं का लोकाधिपति है उस को अपना अगुआ समझकर सब मनुष्य जितेन्द्रिय हों ॥ १ ॥

इस सूक्त में ऋग्वेद १० । १५२ । मन्त्र २—५ कुछ भेद के साथ हैं

तिप्रत्ययः । ततः । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति दुदाञ् दाने-क्विप् । समासस्य । पा० ६ । १ । २२३ । इति अन्तोदात्तः । क्षेमप्रदः । विशास् । विश प्रवेशे-क्विप् । विशः, मनुष्याः - निघ० २ । ३ । प्रजानाम् मनुष्याणाम् । पतिः । १ । १ । १ । पालकः, स्वामी । वृत्र-हा । स्फायितञ्चिधञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वृत्त वर्तने-रक् । इति वृत्रः, अन्धकारः । शत्रुः । ब्रह्मभूणवृत्रेषु क्विप् । पा० ३ । २ । ८७ । इति हन हिंसागत्योः-क्विप् । शत्रुनाशकः । अन्धकार-निवारकः । वि-मृधः । वि + मृध हिंसायाम्-क्विप् । विशेषेण हिंसकान् । शत्रून् । अकेनोर्भविष्यदाधमर्त्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति ( वशी ) शब्देन सह द्वितीया, यथा ( मां कामिन्यसः ) १ । ३४ । ५ । वशी । वशोऽस्त्यस्य । अत इतिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वश आयत्तत्वे, स्पृहायाम्—इनि । वश-यिता । वृषा । १ । १२ । १ । सुखस्य वर्षयिता, महावली । इन्द्रः । १ । ७ । ३ । परमेश्वरः । राजा । जीवः । पुरः । पुरस्तात्, अग्रे । एतु । इण्—गतौ । गच्छतु, अग्रगामी भवतु । सोम-पाः । आतो मनिन्क्विनिव्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । सोम + पा पाने—क्विप् । सोमस्य अमृतरसस्य पानशीलः । अभयस्-करः । मेघर्त्तिभयेषु कृजः । पा० ३ । २ । ४३ । उपपदविधौ भयादि-ग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति । इति वार्त्तिकेन । अभय + कृज्-खच् । अरुद्वि-पदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ इति मुम् आगमः । अभयस्य रक्षस्य जयस्य कर्ता ॥

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।

अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥

वि । नः । इन्द्र । मृधः । जहि । नीचा । यच्छ । पृतन्यतः ।

अधमस् । गमय । तमः । यः । अस्मान् । अभि-दासति ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (नः) हमारे (मृधः) शत्रु-  
ओंको (विजहि) मार डाल, (पृतन्यतः) और सेना चढ़ाकर लानेहारों को (नीचा)  
नीचे करके (यच्छ) रोक दे । (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदालति) हानि  
पहुँचावे उसको (अधमम्) नीचे (तमः) अन्ध कार में (गमय) पहुँचा दे ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—१, न्यायशील, प्रतापी राजा अन्यायी दुराचारियों को परमे-  
श्वर के दिये हुये बल से सब प्रकार परास्त करके दृढ़ बन्धीगृह में डालदे ॥

२—महा बली परमेश्वर को हृदयस्थ समझ कर सब मनुष्य अपनी कुवृ-  
त्तियों का दमन करें ॥ २ ॥

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।

वि मुन्युमिन्द्र वृत्रहन्मित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

वि । रक्षः । वि । मृधः । जहि । वि । वृत्रस्य । हनु इति । रुज ।

वि । मुन्युस् । इन्द्र । वृत्र-हन् । मित्र-स्याभि-दासतः ॥ ३ ॥

२—वि । विविधाम् । मृधः । म० १ । मृध हिंसायाम्-क्विप् । मर्धयितृन्,  
हिंसकान्, शत्रून् । जहि । १ । ८ । ३ । नाशय । नीचा । सुपांसुलुक्० ।  
पा० ७ । १ । ३६ । नीचैः शब्दात् सुपो डा प्रत्ययः, डित्वात् टिलोपः । नीचैः ।  
यच्छ । १ । १ । ३ । नियमय, न्यग्भूतान् कुरु । पृतन्यतः । सुप आत्मनः  
क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति पृतना—क्यच् । कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः ।  
पा० ७ । ४ । ३६ । इति अकार लोपः । नदन्तस्य धातु संज्ञायां लटः शतृ । युद्धार्थं  
पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छतः शत्रून् । अधमस् । अधस् + मप्रत्ययः, अन्त्य-  
लोपः । अतिनीचं । निकृष्टम् । गमय । गमल् शिचि-लोट् द्विकर्मकः । प्रापय  
तं शत्रुम् । तमः । तमिर खेदे-असुन् । अन्धकारम् । अस्मान्, अभिदा-  
सति । व्याख्यापम्, १ । १६ । ३ ॥

भाषार्थ—(रक्षः=रक्षांसि) राक्षसों और (मृधः) हिंसकों को (वि वि) सर्वथा (जहि) तु मार डाल, (वृत्रस्य) शत्रु के (हनू) दोनों जावड़ों को (विरुज) तोड़ दे (वृत्रहन्) हे अन्धकार मिटाने हारे (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (अभिदासतः) चढ़ाई करने हारे (अमित्रस्य) पीड़ाप्रद शत्रु के (मन्युम्) कोप को ( वि=विरुज) भंग करदे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—१. राजा को पुरुषार्थों छोकर शत्रुओं का नाश करके और प्रजामें शान्ति फैलाकर आनन्द भोगना चाहिये ॥

२—सर्वरक्षक परमेश्वर के प्रताप से मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी शत्रुओं को निर्वल करें ॥ ३ ॥

अपेन्द्र द्विपतो मनोऽप जिज्यासतो वृधम् ।

वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यात्रया वृधम् ॥ ४ ॥

अप । इन्द्र । द्विपतः । मनः । अप । जिज्यासतः । वृधम् ।

वि । महत् । शर्म । यच्छ । वरीयः । यवयु । वृधम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( इन्द्र ) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ( द्विपतः ) वैरी के (मनः) मन को (अप =अपकृत्य) नाड़कर, और ( जिज्यासतः ) [ हमारी ] आयु की हानि

३—रक्ष । रक्ष पालने-अमुन् । रक्षो रक्षितव्यमस्मात्-निरु० ४ । १८ ।

जानायेकवचनम् । राक्षसम् । शत्रुम् । वि । विशेषण. सर्वथा । मृधः । म० २ । मर्धयितृन्, हिंसकान् । जहि । म० २ । नाशय । वृत्रस्य । म० १ । शत्रोः । हनू । शृङ्खुस्तिहि० । उ० १ । १० । इति हन वधे-उ प्रत्ययः । हन्ति कठोर-द्रव्यादिकमिति णुः । कपोलद्वयोयस्मिमुखभागौ । रुज । रुजो भङ्गे तुदादिः । भङ्गि । विदारय । वि-विरुज । मन्युम् । १ । १० । १ । —क्रोधं, कोपम् । वृत्र-हन् । म० १ । हे अन्धकारनाशक ! अमित्रस्य । १ । १६ । २ । पीडा-कस्य, शत्रोः । अभि-दासतः । दसु उत् क्षेपे-शत्रु । उपक्षपयतः, उत्-क्षेपण-शीलस्य ॥

४—अप । अपकृत्य, तिरस्कृत्य । द्विपतः । द्विप अप्रीती-शत्रु । अप्रीति-

चाहने हारे शत्रु के ( वधम् ) प्रहार को ( अप = अपकृत्य ) छिन्नभिन्न करके ( महत् शर्म ) [ अपना ] विस्तीर्ण शरण ( वियच्छ ) [ हमें ] दानकर, और ( वधम् ) [ शत्रु के ] प्रहार को ( वरीयः ) बहुत दूर ( यावय ) फेंक दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के विश्वास से मनुष्य अपने पुरुषार्थ और बुद्धि बल से शत्रु को निरुत्साही करके विजयी हों ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पिब्ले आधे मन्त्र के लिये १ । २० । ३ । देखो ॥

इति चतुर्थोऽमुवाकः ॥



करस्य शत्रोः । मनः । १ । १ । २ । अन्तःकरणं हृदयम् आत्मबलम् । जिज्या-  
सतः । धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायाम् । वा० । पा० ३ । १ । ७ । इति  
ज्या वयोहानौ—सन् प्रत्ययः । सन्यङोः । पा० ६ । १ । ६ । इति द्विर्वचने  
हलादिः शेषे ह्रस्वे च कृते । सन्यतः । पा० ७ । ४ । ७८ । इति अभ्यासाकारस्य  
इत्वम् । सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शतृ । वयोहानिमिच्छतः, अस्मान् जेतु-  
मिच्छतः पुरुषस्य । वधम् । १ । २० । १ । प्रहारम् । अन्यद् व्याख्यातम् । १ ।  
२० । ३ ॥

## अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २२ ॥

१—४ ॥ सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश के लिये उपदेश ॥

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ।

गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परिदधमसि ॥ १ ॥

अनु । सूर्यम् । उत् । अयताम् । हुत्-द्योतः । हरिमा । च । ते ।  
गोः । रोहितस्य । वर्णेन । तेन । त्वा । परि । दधमसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (हृद्-द्योतः) हृदय की सन्ताप [ चमक ] (च) और (हरिमा) शरीर का पीलापन (सूर्यम् अनु) सूर्य के साथ साथ (उद्-अयताम्) उड़ जावे । (रोहितस्य) निकलते हुये लाल रंग वाले (गोः) सूर्य के (तेन) प्रसिद्ध (वर्णेन) रंग से (त्वा) तुझ को (परि) सब प्रकार से (दधमसि) हम घुष्ट करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रातः और सायं काल सूर्य की किरणें तिरछी पड़ने से रक्त वर्ण दीप्त होती हैं, और वायु शीतल, मन्द, सुगन्ध चलता है । उस समय मानसिक और शारीरिक रोगी को सदैव वायु सेवन और औषधि सेवन करावे ,

१—अनु । अनुलक्षणे । पा० १ । ४ । ८४ । लक्षणेऽर्थे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । पा० २ । ३ । ८ । इति सूर्य शब्दस्य द्वितीया । लक्ष्यकृत्य । सूर्यम् । १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकम् । आदित्यम् । उत् +



जिस से वह स्वस्थ हो जाये और रुधिर के संचार से उस का रंग रक्त सूर्य के समान लाल चमकीला हो जाये ॥ १ ॥

१—( गौः ) सूर्य है वह रसों को ले जाता [ और पहुंचाता ] है, और अन्तरिक्ष में चलता है—निरु० २ । १४ ॥

२—मनु महाराज ने भी दो सन्ध्याओं का विधान [ स्वस्थता के लिये ] किया है—मनु, अ० २ श्लो० १०१ ॥

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।

पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १ ॥

प्रातःकाल की सन्ध्या में गायत्री को जपता हुआ सूर्य दर्शन होने तक स्थित रहे और सायंकाल की सन्ध्या में तारों के चमकने तक बैठा हुआ ठीक ठीक जप करे ॥

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि ।

यथायमरुपा असद्यो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥

परि । त्वा । रोहितैः । वर्णैः । दीर्घायु-त्वाय । दध्मसि ।

यथा । अयम् । अरुपाः । असत् । अद्यो इति । अहरितः । भुवत् ॥ २ ॥

अयताम् । अय गतौ । अनुदात्तेत्वाद् आत्मनेपदम् । उद्गच्छतु, चिन्तयतु, इति यावत् । हृद्-द्योतः । द्युत दीप्तौ—भावे घञ् । हृदयस्य सन्तापः । हरिमा । वर्णदृढादिभ्यः प्यञ् च । पा० ५ । १ । १२३ । इति हरित्—भावे इमनिच् । यच्च भम् । पा० १ । ४ । १८ । इति भसंज्ञायाम् । टेः । पा० ६ । ४ । १४३ । इति टिलोपः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । कामिलादि-रोगजनितः शारीरो हरिद्वर्णः । गौः । पुंलिङ्गम् । गर्भेडोः । उ० २ । ६७ । गम्लु गतौ—डो । गौरादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे—इति भगवान् यास्कः—निरु० २ । १४ । आदित्यस्य, सूर्यस्य । रोहितस्य । रुहेरश्च लो वा । उ० ३ । ६४ । इति रुह जन्मनि प्रादुर्भावे च—इतन् । प्रादुर्भूतस्य, उदितस्य । प्रभातकाले रक्तवर्णस्य । वर्णेन । वर्ण शुक्लादिवर्णकरणे दांपने च—घञ् । रागेण, रजनेन । रूपेण । दध्मसि । दध्मः पोषयामः ॥

भाषार्थ—(रोहितैः) लाल (वर्णैः) रंगों के साथ (त्वा) तुम्हको (दीर्घायु-  
त्वाय) चिर काल जीवन के लिये (परि) सब प्रकार से (दध्मसि) हम पुष्ट करते  
हैं । ( यथा ) जिस से ( अयम् ) यह ( अरपाः ) नीरोग ( असत् ) हो जाये,  
(अथो) और ( अहरितः ) पीले वर्ण रहित ( भुवत् ) रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य और कुटुम्बी लोग रोगी को प्रातः सायम् वायु सेवन  
और औषधि सेवन कराकर स्वस्थ करें कि रुधिर संचार से उस का शरीर रक्त  
वर्ण हो जाय और ज्वर, पीलिया आदि रोग का पीलापन शरीर से जाता  
रहे ॥ २ ॥

या रोहिणीर्देवत्या ३ गावो या उत रोहिणीः ।

रूपं रूपं वयोवयस्ताभिष्टवा परि दध्मसि ॥ ३ ॥

याः । रोहिणीः । देवत्याः । गावः । याः । उत । रोहिणीः ।  
रूपम्-रूपम् । वयः-वयः । ताभिः । त्वा । परि । दध्मसि ॥३॥

भाषार्थ—(याः) जो ( देवत्याः ) दिव्य गुण युक्त (रोहिणीः) स्वास्थ्य  
उत्पन्न करने वाली ओषधें ( उत ) और ( याः ) जो ( रोहिणीः ) लाल वर्ण  
वाली (गावः) दिशायें हैं । ( ताभिः ) उन सब के साथ ( त्वा ) तुम्हको (रूपम्

२—त्वा । त्वांरोगिणं । रोहितैः । म० १ । लोहितैः, रक्तैः वर्णैः ।  
म० १ । रङ्गैः । रञ्जनैः । दीर्घायुत्वाय । दीर्घ-आयुत्वाय । छन्दसीशः । उ०  
१।२। इण् गतौ-उण् । भावे त्व प्रत्ययः । चिरकालजीवनाय । परिदध्मसि ।  
म० १ । सर्वतः पोषयामः । अरपाः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति-  
रप लप कथने-असुन् । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ ।  
अपापः, नीरुजः, नीरोगः । असत् । अस सत्तायाम्-लेट् । भवेत् । अथो ।  
अथ—उ । तदनन्तरम् एव । अहरितः । दृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ६३ । इति  
न + हञ् हरणे—इतन् । पीतवर्णरहितः । भुवत् । भूसत्तायाम्-लेट् । भवेत् ॥

३—रोहिणीः । रुहेश्च । उ० २ । ५५ । इति रुह उद्भवे-इनन् । षिद्गौ-  
रादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति गारादित्वात् डाप् । वा छन्दसि । पा०

रूपम् ) सब प्रकार की सुन्दरता और ( वयः वयः ) सब प्रकार के बल के लिये ( परि दध्मसि ) हम सर्वथा पुष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब सूर्य की किरणों से दिशायें रक्त वर्ण दिखायी देती हैं तब प्रातः सायं दोनों समय सदैव रोगी को सुपरीक्षित औषधों और यथा-योग्य वायु सेवन से स्वस्थ करके सब प्रकार से दृष्ट पुष्ट और बलवान् करें ॥३॥

सुकैषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।

अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

सुकैषु । ते । हरिमाणम् । रोपणाकासु । दध्मसि ।

अथो इति । हारिद्रवेषु । ते । हरिमाणम् । नि । दध्मसि ॥४॥

भाषार्थ—(सुकैषु) उत्तम उत्तम उपदेशों में और (रोपणाकासु) लेप आदि क्रियाओं में (ते) तेरे (हरिमाणम्) सुख हरने वाले शरीर रोग को (दध्मसि) हम रखते हैं । (अथो) और भी (हारिद्रवेषु) रुचिर रसों में (ते)तेरे (हरिमाणम्) चित्त विकार को (नि) निरन्तर (दध्मसि) हम रखते हैं ॥ ४ ॥

६।१।१०६। इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहयन्ति जनयन्ति स्वास्थ्यं ता रोहिण्यः, ओषधयः । देवत्याः । भवे छन्दसि । पा० ४।४।११०। इति देवता-यत् । दिव्यगुणयुक्ताः । गावः । स्त्रीलिङ्गम् । दिशाः । रोहिणीः । वर्णादनुदात्तात् तो नः । पा० ४।१।३६। इति रोहित-ङीप्, तकारस्य नकारः । जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहिण्यः, लोहितवर्णाः प्रातः सायंकालभवाः । रूपं-रूपम् । नित्यवीप्सयोः । पा० ८।१।४। इति द्विर्वचनम् । सर्वसौन्दर्येण । सर्वसौन्दर्याय । वयः-वयः । वयःगतौ-असुन् । वीप्सयां द्विर्वचनम् । कृत्स्नेन यौवनेन, सर्वेण सामर्थ्येण । सर्वसामर्थ्याय । ताभिः । गोभिश्च रोहिणीभिश्च ॥

४—सुकैषु । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३।२।१०१। इति सु० + कै + शब्दे, यद्वा, कच दीप्तौ-ङ । उत्तमेषु शब्देषु । उपायकथनेषु । हरिमाणम् । म० १।

**भावार्थ—**सद्वैद्य बाहिरी शारीरिक रोगों को यथायोग्य ओषधि और लेप आदि से, और भीतरी मानसिक रोगों को उत्तम उत्तम ओषधि रसों से नाश करके रोगी को स्वस्थ करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋ० १ । ५० । १२ । में कुछ भेद से है, वहां (सुकेषु) के स्थान में [शुकेषु] है । और सायण भाष्य में भी [शुकेषु] माना है । परन्तु तीनों अथर्व-संहिताओं में ( सुकेषु ) पाठ है वही हमने लिया है । सायणाचार्यने [शुक] का अर्थ तोता पक्षी और (रोपणाका)का [काण्ठशुक] नाम हरिद्वर्ण पक्षी अथर्ववेद में और [ शारिका पक्षी विशेष ] अर्थात् मैना ऋग्वेद में, और (हारिद्रव) का अर्थ [गोपीतनक नाम हरिद्वर्ण] [पक्षी] अथर्ववेद में, और [हरिताल का वृक्ष] ऋग्वेद में किया है इस अर्थ का यह आशय जान पड़ता है कि रोग विशेषों में पक्षी विशेषों को रोगी के पास रखने से भी रोग की निवृत्ति होती है ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—४ ॥ ओषधिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

महारोगनाशोपदेशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिंक्रि च ।

इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥

रोग जनितं हरिद्वर्णम्, सुखहरणशीलं रोगं शारीरिकं हार्दिकं वा । रोपणा-कासु । रोपण—आकासु । रुह प्रादुर्भावे, शिच्—ल्युट्, हस्य पः । वणरोगे मांसाङ्कुरजननार्थक्रियादिकं इति रोपणम्, ततः, आ + कम कान्तौ—ड ॥ “रोपणं समन्तात् कामयन्ति तासु क्रियासु लिप्तास्वोषधिषु”—इति श्रीमद् दयानन्द-भाष्यम् ऋ० १ । ५० । १२ । दध्मसि । म० । १ । वयं धारयामः, स्थापयामः । हारिद्रवेषु । वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति ह्यन् हरणे—इज् । हरति रोगमिति हारिः, रुचिरः, मनोहरः । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति द्र द्रवणे स्रवणे—अप् । इति, द्रवः, रसः । रुचिररसेषु । नि । नियमेन ॥

नक्तम्-जाता । असि । ओपधे । रामे । कृष्णे । असिक्त्रि । च ।  
इदम् । रजनि । रजय । किलासम् । पलितम् । च । यत् ॥१॥

भाषार्थ—(ओपधे) हे उष्णता रखने हारी, ओपधि तू (नक्तंजाता) रात्रिमें उत्पन्न हुई (असि) है, जो तू (रामे) रमण कराने हारी (कृष्णे) चित्त को खींचने हारी, (च) और (असिक्त्रि) निर्वन्ध [पूर्ण सार वाली] है । (रजनि) हे उत्तम रंग करने हारी ! तू (इदम्) यह (यत्) जो (किलासम्) रूप का बिगाड़ने हारा कुष्ठ आदि (च) और (पलितम्) शरीर का श्वेतपन रोग है [उसको] (रजय) रंगदे ॥ १ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य उत्तम परीक्षित ओपधे से रोगों की निवृत्तिकरे ॥१॥

१—रात में उत्पन्न हुई ओपधि से यह आशय है कि ओपधे, गैहूं, जौ, चावल आदि अन्न, और कमल आदि रोगनिवर्तक पदार्थ, चन्द्रमा की किरणों से पुष्ट होकर उत्पन्न होते हैं ॥

१—नक्तम्-जाता । नज ह्रियि-क्त । नजते लज्जां प्राप्नोति अस्याम् । यद्वा । नक्त नाशने-क्त । नक्तयति नाशयति प्रकाशम् इति नक्तं रात्रिः । जनी प्रादुर्भावे-क्त । रात्रौ जाता उत्पन्ना । अज्ञातजन्मा । ओपधे । ओपो पाको धायतेऽस्याम्, ओप + डुधाञ् धारणपोषणयोः-कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ६३ । इति कि प्रत्ययः । ओपधय ओपद् धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा-निरु० ६ । २७ । अस्यार्थः—ओपत् शरीरे दहद् रोगजातं धयन्ति पिवन्ति नाशयन्ति । ओपति दाहके ज्वरादौ एता धयन्ति पिवन्ति रोगिणो दाहोपशमनाय । पक्षद्वये । ओपत् + धेद् पाने-कि । अथवा दोषं वातपित्तादिकं धयन्तीति वा । दोष + धेद्-कि । पृषोदरादित्वाद् दलोपः । हे रोगनाशकद्रव्य ! । रामे । रमु क्रीडायाम् शिच् वा-घञ् । टाप् । रमते रमयति वेति रामा, हे रमणशीले, रमणकारिणि, सुखप्रदे । कृष्णे । कृषेर्वर्णे । उ० ३ । ४ । इति बाहुलकात् वर्णं विनापि । रूप आकर्षणे—नक् । टाप् । कर्षति आनन्दयति चित्तानि स्वमनोहरगुणेन । यद्वा, कर्षति वशीकरोति रोगान् सौ कृष्णा । हे आकर्षणशीले । असिक्त्र । अश्विभृ-सिभ्यः कः । उ० ३ । २६ । इति पिञ् वन्धने-क्त । अथवा । पो अन्तकर्मणि-क्त नञ्समासः । छन्दसि क्तमित्येके । वार्तिकम्, पा० ४ । १ । ३६ । इति असित-

२—इसी प्रकार मनुष्यों को गर्भाधान क्रिया रात्रि में करनी चाहिये ॥

३—ओषधि आदि मूर्त्तिमान पदार्थ पांच तत्त्वों से बने हैं तो भी उनके भिन्न २ आकार और भिन्न २ गुण हैं, यह मूल संयोग वियोग क्रिया ईश्वर के अधीन है, वस्तुतः मनुष्य के लिये यह कर्म रात्रि अर्थात् अंधकार वा अज्ञान में है ॥

४—प्रलय रूपी रात्रि के पीछे, पहिले अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं फिर मनुष्य आदि की सृष्टि होती है ॥ १ ॥

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।

आत्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥२॥

किलासम् । च । पलितम् । च । निः । इतः । नाशय । पृषत् ।

आ । त्वा । स्वः । विशताम् । वर्णः । परा । शुक्लानि । पातय ॥२॥

भाषार्थ—[हे ओषधि !] (इतः) इस पुरुष से (किलासम्) रूप बिगाड़ने वाले कुष्ठ आदि रोग को (च) और (पलितम्) शरीर के श्वेतपन (च) और (पृषत्) विकृत चिह्न को (निराशय) निरन्तर नाश करदे । (स्वः वर्णः) [रोग

लांप्, तकारस्य कः । असिता असिक्तौ । हे अवद्वयशक्ते, अखंडवीर्ये, पूर्णसार-युक्ते । रजनि । रजः पयुन् । उ० २ । ७६ । इति रज्ज रागे-क्युन्, स्त्रियां लीप् । रज्जयतीति रजनी । हे सुरज्जनशीले । रजय । रज्ज रागे, नकारलोपः रज्जय, स्वाभाविकरागयुक्तं कुरु । किलासम् । क्लीबलिंगम् । किल प्रेरणे, क्रीड़े—क । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । किल + असु क्षेपणे—अण् । किलं वर्णं अस्यति क्षिपति विकृतं करोतीति तत् किलासम् । वर्णदूषकम् सिध्मम् । कुष्ठ-रोगादिकं । पलितम् । फलेरितजादेश्च पः । उ० ५ । ३४ । इति फल भेदने निष्पत्तौ च—इतच्, फस्य पत्वम् । फलति निष्पन्नं पकमिव भवतति पलितम् । अथवा पल गतौ रक्षणे च—इतच् । शरीरश्वेततारोगः । यत् । यत् किञ्चित् ॥

२—किलासम् । म० १ । वर्णविकारकरं कुष्ठादिरोगम् । पलितम् । म० १ । शरीरश्वेततारोगम् । निर् । निरन्तरम् । इतः । अस्मात् पुरुषात् ।

का] अपना रंग ( त्वाम् ) तुझ में [ओपधि में] (आविशताम्) प्रविष्ट हो जाय और ( शुक्लानि ) [उसके] श्वेत चिन्हों को ( परा पातय ) दूर गिरादे ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य की उत्तम ओपधि से रोगी के शरीर का बिगड़ा हुआ रूप फिर यथापूर्व सुन्दर रुचिर और मनोहर हो जाना है ॥ २ ॥

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव ॥

असिन्नयस्योपधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥

असितम् । ते । प्र-लयनम् । आ-स्थानम् । असितम् । तव ।  
असिक्नी । असि । ओषधे । निः । इतः । नाशय । पृषत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ओपधे) हे ओपधि ! (ते) तेरा (प्रलयनम्) लाभ (असितम्) निर्वन्ध वा अखंड है, और (तव) तेरा (आस्थानम्) विश्राम स्थान (असिनम्) निर्वन्ध है, (असिक्नी असि) और तू निर्वन्ध [ सारवाली ] है, (इतः) इस पुरुष से (पृषत्) [विकृत] चिन्ह को (निर्नाशय) सर्वथा नाश कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य विचार करे कि यह ओपधि पूर्ण लाभयुक्त है यथायोग्य

नाशय । णश अदर्शने—णिच् । विनष्टं कुरु, घानय । पृषत् । वर्तमाने पृषद्-  
वृहन्महत् ० । उ० २ । ८४ । पृष सेके हिंसने च—अति । विकृतचिन्हम् ।  
त्वा । त्वाम् । ओपधिम् । स्वः । स्वन शब्दे—ड । स्वकोयः, आन्मीयः ।  
आ+विशताम् । प्रविशतां, व्याप्नोतु । वर्णः । १ । २२ । १ । रूपम् ।  
शुक्लानि । ऋज्रेन्द्राग्रवज्र ० । उ० २ । १८ । इति शुच शौचे—रन् । रस्य लः ।  
श्वेतानि श्वेतानि सितानि चिन्हानि । परा+पातय । पत, णिच् । दूरं प्रैरय ॥

३—असितम् । अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८६ । इति पिञ् यन्धने-क्ता  
अथवा । पो अन्तकर्मणि=नाशने-क्त । नञ्मासः । अवद्धम्, अवद्विडनम् ।  
कृष्णवर्णम्—इति सायणः । प्र-लयनम् । प्र+लीङ् श्लेषे, प्राप्ता-ल्युट् ।  
प्रापणं, प्राप्तिः, लाभः । आ-स्थानम् । आङ्+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-ल्युट् । विश्राम-

स्थान में उत्पन्न हुई है और सब अंशों में सारयुक्त है, ऐसी ओषधि के प्रयोग से रोग निवृत्ति होती है ॥ ३ ॥

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।

दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्मं श्वेतमनीनशम् ॥ ४ ॥

अस्थि-जस्य । किलासस्य । तनू-जस्य । च । यत् । त्वचि ।

दूष्या । कृतस्य । ब्रह्मणा । लक्ष्मं । श्वेतम् । अनीनशम् ॥४॥

भाषार्थ—( दूष्याकृतस्य अस्थिजस्य तनूजस्य च किलासस्य यत् श्वेतम् लक्ष्मं त्वचि अस्ति तत् ब्रह्मणा अहम् अनीनशम्—इत्यन्वयः)। (दूष्या) दुष्ट क्रिया से (कृतस्य) उत्पन्न हुये, (अस्थिजस्य) हड्डी से उत्पन्न हुये (च) और (तनूजस्य) शरीर से निकले हुये (किलासस्य) रूप बिगाड़ने हारे, कुष्ठ आदि रोग का (यत्) जो (श्वेतम्) श्वेत (लक्ष्मं) चिन्ह (त्वचि) त्वचा पर है [ उसको ] (ब्रह्मणा) वेद विज्ञान से (अनीनशम्) मैंने नाश कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—भारी रोग दो प्रकार के होते हैं एक (अस्थिज) हड्डी से उत्पन्न होने वाले अर्थात् भीतरी रोग जो ब्रह्मचर्य के खंडन और कुपथ्य भोजन आदि के कारण मज्जा और वीर्य के विकार से हो जाते हैं, और दूसरे (तनूज)

स्थानम् । तव । त्वदीयम् । असिक्री । म० १ । अवद्धा, सारवती । ओषधे । म० १ । हे रोगनाशकद्रव्य ! । अन्यत् सुगमं व्याख्यातंच ।

४-अस्थि-जस्य । असिसञ्जिभ्यां क्थिन् । उ० ३ । १५४ । इति असु क्षेपणे-क्थिन् । अस्यते क्षिप्यते शरीरे तत् अस्थि, शरीरस्थ सप्तधातुमध्ये धातुविशेष ; कीकसम् । ततः । पञ्चम्यामजातौ । पा० ३ । २ । ६८ । इति जनी प्रादुर्भावे- ड प्रत्ययः । अस्थिनो जातस्य मज्जाधृतोः । किलासस्य । म० १ । वर्णनाशकस्य कुष्ठरोगादिकस्य । तनू-जस्य । तन्वाः शरीरात् जायते, पूर्ववत् तनू + जनी- ड । शरीरजातस्य । यत् । लक्ष्मं । त्वचि । तनोरनश्चवः । उ० २ । ६३ । इति तनु विस्तारे-चिक प्रत्ययः, अत्र भागस्य वकारश्च । तन्यते विस्ती-



शरीर से उपग्रहिये बाहिरी रोग जो मलिन वायु, मलिन घट, आदि के कारण होते हैं, इस प्रकार ( ब्रह्मणा ) वेदिक ज्ञान से रोगों का निदान करके उत्तम परीक्षित ओषधियों से रोगियों को स्वस्थ करे ॥ ४ ॥

इस सूक्त का आशय यह है कि जिस प्रकार सदैव रोगों का आदि कारण जान कर ओषधि करके रोग निवृत्ति करता है, उसी प्रकार नीतिज्ञ राजा नियम पूर्वक दुष्टों का दमन करता है, सेनापति शत्रु के प्रहार से अपनी सेना की रक्षा करके जीत पाता है, और ब्रह्मज्ञानी और वैज्ञानिक लोग बाह्य और आभ्यान्तर विधनों को हटाकर अपना कार्य सिद्ध करते हैं ॥

### सूक्तम् २४ ।

१—४ ॥ ओषधिर्देवता ॥ १, ३, ४, अनुष्टुप् , २ पंक्तिः,  
८×५ अक्षराणि ॥

महारोगनाशोपदेशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

सुपर्णी जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ ।

तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥१॥

सु-पर्णः । जातः । प्रथमः । तस्य । त्वम् । पित्तम् । आसिथ ।

तत् । आसुरी । युधा । जिता । रूपम् । चक्रे । वनस्पतीन् ॥ १ ॥

यते सा त्वक् । यद्वा । त्वच् संवरणे—क्विप् । त्वचति संवृणोति मेदः शोणितादि-  
कम् सा । शरीरावरणे, चर्मणि । दूष्या । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ ।  
इति दुष वैरे, दुष्टकर्मणि—इन् । दूषयति प्राणिनं हिनस्तीति दूषिः, तथा दुष्ट-  
क्रियायां ब्रह्मचर्यखंडनमद्यादिकुपथ्यसेवनरूपया । कृतस्य । उत्पादितस्य ।  
ब्रह्मणा । १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानेन । लक्ष्म । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ ।  
१४५ । इति लक्ष दर्शने—मनिन् । चिह्नम् । श्वेतम् । श्वेत शुक्लतायाम्—अच्  
घञ् वा । शुक्लवर्णयुक्तम् । अनीनशम् । राश अदर्शने—णिचि लुङि रूपम् ।  
अहं नाशितवानस्मि ॥

भाषार्थ—( सुपर्णः ) उत्तम रीति से पालन करने हारा, वा . अति पूर्ण परमेश्वर ( प्रथमः ) सब का आदि ( जातः ) प्रसिद्ध है । ( तस्य ) उस [ परमेश्वर ] के ( पित्तम् ) पित्त [ वल ] को, [ हे औषधि ! ] ( त्वम् ) तूने ( आसिथ ) पाया था । ( तत् ) तब ( युधा ) संग्राम से ( जिता ) जीती हुयी ( आसुरी ) असुर [ प्रकाशमय परमेश्वर ] की माया [ प्रज्ञा वा बुद्धि ] ने ( वनस्पतीन् ) सेवा करने वालों के रक्षा करने हारे वृक्षों को ( रूपम् ) रूप ( चक्रे ) किया था ॥१॥

भाषार्थ—सृष्टि से पहिले वर्त्तमान परमेश्वर की नित्य शक्ति से औषधि अन्न आदि में पोषण सामर्थ्य रहता है । वह ( आसुरी ) परमेश्वर की शक्ति ( युधा जिता ) युद्ध अर्थात् प्रलय के अन्धकार के उपरान्त प्रकाशित होती है , जैसे अन्न, और घास पात आदि का बीज शीत और ग्रीष्म ऋतुओं में भूमि के भीतर पड़ा रहता और वृष्टि का जल पाकर हरा होजाता है ॥ १ ॥

१—सु-पर्णः । धापृवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति सु + पृ पालन-  
पूरणयोः — न । शोभनपालनः , शोभनपूरणः परमेश्वरः । जातः । प्रादु-  
र्भूतः । प्रसिद्धः । प्रथमः । १ । १२ । १ । आद्यः , अग्रिमः , उत्तमः । पित्तम् ।  
अपि + देङ् पालने , दो छेदने वा-क्त । अच उपसर्गात् तः । पा० ७ । ४ । ४७ ।  
इति तादेशः , अपेरल्लोपः । अपि अवश्यं दयते पालयति सुगुणान् , अथवा द्यति  
नाशयति दुर्गुणान् तत् पित्तम् । वीर्यम् अथवा शरीरस्थधातुविशेषः । तत्पर्यायः  
तेजः, उष्मा, अग्निः । तस्य कर्माणि । “पाचकं पचते भुक्तं शेषाग्निबलवर्धनम् ।  
रसमूत्रपुरीषाणि विरेचयति नित्यशः” ॥ १ ॥ इति शब्दकल्पद्रुमे । आसिथ ।  
अस दीप्तिग्रहणगतिपु-लिट् । त्वं गृहीतवती प्राप्तवती । तत् । तदा ।  
आसुरी । १ । १० । १ । असुरस्य इयम् । मायायामण् । पा० ४ । ४ । १२४ ।  
इति असुर—अण् । टिड्ढाणञ्द्वयस्० । पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । माया =  
प्रज्ञा-निघ० ३ । ६ । असुरस्य दीप्यमानस्य परमेश्वरस्य माया प्रज्ञा । युधा ।  
युध संग्रहारे—क्विप् । युद्धेन संग्रामेण विघ्ननिवारणेन । जिता । प्राप्तपरा-  
जया । वशीकृता रूपम् । १ । १ । १ । आकारम् । सौन्दर्यम् । चक्रे ।

टिप्पणी--(असुर) शब्द के लिये १।१०।१ और (आसुरी) के लिये ७।३६।१ देखो । हे ओषधि ! तू रात्रि में उत्पन्न हुई है । ऐसा, १।२३।१ में आया है । ऋग्वेद १०।१२६।३ में कहा है ।

तमं आसीत् तमसा गुहमग्रंऽप्रकेतं संलितं सर्वमाद्भुतम् ।  
पहिले [प्रलय काल में] अन्धकार था , और यह सब अन्धकार से ढका हुआ चिन्हरहित समुद्र था ।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाश-  
नम् । अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥२॥

आसुरी । चक्रे । प्रथमा । इदम् । किलास-भेषजम् । इदम् ।  
किलास-नाशनम् । अनीनशत् । किलासम् । स-रूपाम् ।  
अकरत् । त्वचम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( प्रथमा ) प्रथम प्रकट हुई ( आसुरी ) प्रकाशमय परमेश्वर की माया [बुद्धि वा ज्ञान] ने (इदम्) इस [वस्तु] को ( किलासभेषजम् ) रूपनाशक महा रोग की ओषधि और (इदम्) इस [वस्तु]को ही ( किलासनाशनम् ) रूप बिगाड़ने वाले महारोग की नाश करने हारी (चक्रे) बनाया । [उसने] [ईश्वर मायाने] (किलासम्) रूप बिगाड़ने वाले महारोग को (अनीनशत्) नाश किया और ( त्वचम् ) त्वचा को ( सरूपाम् ) सुन्दर रूप वाली ( अकरत् ) बनादिया ॥ २ ॥

डुकृञ् करणे—लिट् । कृतवती , दत्तवती । वनस्पतीन् । १ । ११ । ३ ।  
वनानां सेवकानां पालकान् । वृक्षान् सृष्टिपदार्थान् , इत्यर्थः ॥ १ ॥

२—आसुरी । म० १ । प्रकाशमयपरमेश्वरस्य माया प्रज्ञा । चक्रे ।  
म० १ । कृतवती । प्रथमा । म० १ । आदिभूता । इदम् । प्रसिद्धम् । उप-  
स्थितम् । किलास-भेषजम् । किलासम् १।२३।१ । किल + असु क्षेपणे-अण् ।  
भिषजो वैदास्येदमिति अण् निपातनात् पत्वम् यद्वा, भेषं भयं रोगं जयतीति  
जि-ङ- । रूपनाशकस्य महारोगस्य ओषधम् । किलास-नाशनम् । कृत-

भावार्थ—(आसुरी) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की शक्ति से प्रलय के पश्चात् अनेक विघ्नों के हटाने पर मनुष्य के सुखदायक पदार्थ उत्पन्न हुये जिस से पृथिवी पर समृद्धि और दुधा आदि रोगों की निवृत्ति हुई ॥

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता ।

सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

स-रूपा । नाम । ते । माता । स-रूपः । नाम । ते । पिता ।  
सरूप-कृत् । त्वम् । ओषधे । सा । स-रूपम् । इदम् । कृधि ॥ ३ ॥

भावार्थ—( ओषधे ) हे उष्णता रखने हारे अन्न आदि ओषधि (सरूपा) समान गुण वा स्वभाव वाली ( नाम ) नाम ( ते ) तेरी ( माता ) माता है, ( सरूपः ) समान गुण वा स्वभाव वाला ( नाम ) नाम ( ते ) तेरा ( पिता ) पिता है । ( त्वम् ) तू ( सरूपकृत् ) सुन्दर वा समान गुण करने हारी है, ( सा = सा त्वम् ) सो तू ( इदम् ) इस [ अंग ] को ( सरूपम् ) सुन्दर रूप युक्त ( कृधि ) कर ॥ ३ ॥

ल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति किलास + णश अदर्शने—कर्तरि ल्युट् । किलासस्य रूपनाशकस्य महारोगस्य कुष्ठादिकस्य निवर्तकम् । अनीनशत् । णश अदर्शने—णिच्, लुङ् । नाशयति स्म । किलासम् । १ । २३ । १ । वर्ण-नाशकं महारोगम् । स-रूपाम् । ज्योतिर्जनपद० । पा० ६ । ३ । ८५ । इति समानस्य समावः । समानरूपाम् । साधुरूपाम् । अकरत् । डुकृञ् करणे लुङ् कृतवती । त्वच्चम् । १ । २३ । ४ । त्वचाम्, शरीरावरणं चर्म ॥

३—स-रूपा । म० २ । समानं रूपं स्वभावो गुणो यस्याः सा । समान-स्वभावाम् । नाम । अव्ययम् । नामन्सोमन्थोमन्० । उ० ४ । १५१ । इति म्ना अभ्यासे—मनिन् । निपातनात् साधुः । म्नायते अभ्यस्यते यत् । प्रसिद्धा । प्रसिद्धम् । म्नाता । १ । २ । १ । माननीया जननी भूमिः प्रकृतिर्वा । स-रूपः । समानरूपः । समानस्वभावः, समानगुणः । पिता । १ । २ । १ । पालको जनकः । परमेश्वरः मेघः सूर्यो वा । सरूप-कृत् । डुकृञ् करणे—किप् । इस्वस्य

भावार्थ—( ओषधि ) क्षुधा रोगादि निवर्तक वस्तु को कहते हैं जिस से शरीर में उष्णता रहती है, उसकी (माता) प्रकृति वा पृथिवी और (पिता) परमेश्वर वा मेघ वा सूर्य्य है जिनके गुण वा स्वभाव सब प्राणियों के लिये समान हैं । ईश्वर से प्रेरित प्रकृति से अथवा भूमि और मेघ वा सूर्य्य के संयोग से सब पुष्टि दायक और रोग नाशक पदार्थ उत्पन्न होते हैं । विद्वान् लोग पदार्थों के गुणों को यथार्थ जान कर नियमपूर्वक उचित भोजन आदि के सेवन और यथोचित उपकार लेने से अपने को और अपने सन्तानों को रूपवान् और वीर्यवान् बनावें ॥ ३ ॥

श्यामा सरूपं करणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।

इदम् पु प्र साधय पुनरूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

श्यामा । सरूपम्-करणी । पृथिव्याः । अधि । उत्-भृता ।  
इदम् । ऊं इति । सु । प्र । साधय । पुनः । रूपाणि । कल्पय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( श्यामा ) व्यापनशीला वा सुखप्रदा, ( सरूपं करणी ) सुन्दरता करने वाली तू ( पृथिव्याः अधि ) विख्यात वा विस्तारण पृथिवी में से ( उद्भृता ) उखाड़ी गई है । ( इदम् उ ) इस [ कर्म ] को ( सु ) भली भाँति से ( प्रसाधय ) सिद्ध कर, ( पुनः ) और ( रूपाणि ) [ इस पुरुष ] की सुन्दरताओं को ( कल्पय ) पूर्ण कर ॥ ४ ॥

पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । शोभनरूपकारिणी । समानगुणकारिणी । त्वस् ओषधे । १ । २३ । १ । हे रोगनाशकद्रव्य त्वम् । स-रूपम् । सुन्दररूपयुक्तम् । इदम् । रोगदूषितम् अङ्गम् । कृधि । श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि । पा० ६ । ४ । १०२ । इति हेर्धिरादेशः । कुरु ॥

४—श्यामा । इपियुधीन्धिदसि श्याधूसूभ्यो मक् । उ० १ । १४५ । इति श्यैङ् गतौ-मक्, टाप् । श्यायति गच्छति सुखं प्राप्नोति सा श्यामा व्यापनशीला । सुखप्रदा । ओषधिः । सरूपम्-करणी । सरूपं क्रियते अनयेति । करणाधिकरणायोश्च । पा० ३ । ३ । ११७ । इति कृजः-करणे ल्युट् । पूर्वपदे सुपो लुग-भाविश्छान्दसः । टिड्ढाणञ्द्वयसज् । पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । सुन्दररूप-

भावार्थ—जैसे उत्तम वैद्य उत्तम औषधों से रोग को निवृत्त कर रोगी को सर्वाङ्ग पुष्ट करके आनन्दयुक्त करते हैं, इसी प्रकार दूरदर्शी पुरुष सब विघ्नों को हटा कर कार्य्य सिद्धि कर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

मुद्राराक्षस में कहा है—

“धरि लात विघ्न अनेक पै निरभय न उद्यम तें टरैं ।

जे पुरुष उत्तम अन्त में ते सिद्ध सब कारज करें ॥”

सूक्तम् २५ ॥

१—४ । अग्निदेवता । त्रिष्टुप् छन्दः, ११×३ अक्षराणि ॥

ज्वरादिरोगशान्त्युपदेशः—ज्वर आदि रोग की शान्ति के लिये उपदेश ॥

यदुग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मं धृतो  
नमसि । तत्र त आहुः परमं जुनित्रं स नः संविद्वान्  
परि वृद्धिं त्वमन् ॥ १ ॥

यत् । अग्निः । आ । अपः । अदहत् । प्र-विश्य । यत्र । अकृ-  
ण्वन् । धर्म-धृतः । नमसि । तत्र । ते । आहुः । परमम् ।  
जुनित्रम् । सः । नः । सम्-विद्वान् । परि । वृद्धिं । त्वमन् ॥ १ ॥

कर्त्री । पृथिव्याः । १ । २ । १ । प्रख्यातायाः विस्तोर्णायावाभूमेः सकाशात् ।  
अधि । पंचम्यर्थानुवादी । उत्-भृता । उत्+भृञ्-क । उत्खाता । उत्पा-  
दिता । ऊँ इति । पादपूरणः । पदपूरणस्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः, कमीमिद्विति ।  
निरु० १ । ६ । प्र+साधय । प्र+पाथ सिद्धौ, णिच् । सिद्धं कुरु, प्रवर्धय ।  
पुनः । अनन्तरम् । पुना रूपाणि । रोरि । पा० ८ । ३ । १४ । इति रेफस्य  
लोपे कृते । ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः । पा० ६ । ३ । १११ । इति पूर्वदीर्घः ।  
रूपाणि । सौन्दर्याणि, स्वास्थ्यलक्षणानि । कल्पय । कृपू सामर्थ्यं, णिच्  
कृपो रो लः । पा० ८ । २ । १८ । इति लत्वम् । संपादय, पूरय ॥

भाषार्थ—( यत् ) जिस सामर्थ्य से ( अग्निः ) व्यापक अग्नि [ ताप ] ने ( प्रविश्य ) प्रवेश करके ( अपः ) व्यापन शील जल को ( आ अदहत् ) तपा दिया है और ( यत्र ) जिस [ सामर्थ्य ] के आगे ( धर्मधृतः ) मर्यादा के रखनेवाले पुरुषों ने ( नमसि ) अनेक प्रकार से नमस्कार ( अकृण्वन् ) किया है । ( तत्र ) उस [ सामर्थ्य ] में ( ते ) तेरे ( परमम् ) सब से ऊँचे ( जनित्रम् ) जन्म स्थान को ( आहुः ) वह [ मर्यादापुरुष ] बताते हैं, ( सः = स त्वम् ) सो तू, ( तक्मन् ) हे जीवन को कष्ट देने वाले, ज्वर ! [ ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर ! ] ( संविद्वान् ) [ यह बात ] जानता हुआ ( नः ) हमको ( परि वृद्धि ) छोड़ दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर उष्ण स्वभाव अग्नि द्वारा शीतल स्वभाव जल को तपाता है अर्थात् विरुद्ध स्वभाव वालों को संयोग वियोग से अनुकूल करके सृष्टि का धारण करता है, जिस परमेश्वर से बढ़ कर कोई मर्यादा पालक नहीं है जो स्वयंभु सब का अधिपति है, और ज्वर आदि रोगों से पापियों को दण्ड

१—यत् । यस्मात् सामर्थ्यात् । अग्निः । १ । ६ । २ । तेजः पदार्थ-विशेषः । औष्ण्यम् । आ । समन्तात् । अपः । १ । ४ । ३ । आप्नुवन्ति शरीर-मित्यापः । अस्य नित्यं बहुवचनत्वम् स्त्रीत्वं च । जलानि । प्राणान् । “आपः ” य० १७ । २६ । प्राणाः । इति दयानन्द सरस्वती । अदहत् । दह दाहे = सन्तापे-लङ् । अतपत् । प्र-विश्य । अन्तर्निगाह्य । यत्र । सामर्थ्ये । अकृण्वन् । कृवि हिंसाकरणयोः-लङ् । अकुर्वन् । धर्मधृतः । अर्त्तिस्तु दुःखं ० । उ० १ । १४० । इति धृञ् धारणे—मन् । धरति लोकान् ध्रियते पुरायात्मभिर्वा स धर्मः-न्यायः, मर्यादा । ततः । धृञ्—क्विप्, तुक् आगमः । धर्मधारकाः । मर्यादा-पालकाः पुरुषाः । नमसि । यम प्रहृत्वे-असुन्, आद्युदात्तः । नम्रभावान् । तत्र । सामर्थ्ये । आहुः । वृञ् व्यक्तायां वाचि-लट् व्रुवन्ति, कथयन्ति । परमम् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ४ । इति पर + मा माने-क । प्रधानम् । जनित्रम् । अशिन्नादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । इति जन जनने, प्रादु-भावे-इत्र प्रत्ययः । जन्मस्थानम् । सः । स त्वम् । सम्-विद्वान् । विदेः शतु-र्वसुः । पा० ७ । १ । ३६ । इति विद ज्ञाने-शतुर्वसुरादेशः सम्यग् जानन् । ज्ञान-वान् । परि-वृद्धि । वृजी वर्जने—रुधादित्वात् भ्रम् परिवर्जय, परित्यज ।

देता है. उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये हम पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें, सब विद्वान् लोग उस ईश्वर के आगे सिर झुकाते हैं ॥ १ ॥

यद् अर्चिर्यदि वासि शोचिः शकल्ये षि यदि वा ते  
जुनित्रम् । ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः  
संविद्वान् परि वृद्धग्धि तक्मन् ॥ २ ॥

यदि । अर्चिः । यदि । वा । असि । शोचिः । शकल्य-इषि ।  
यदि । वा । ते जुनित्रम् । ह्रूडुः । नाम । असि । हरितस्य ।  
देव । सः । नः । सुम्-विद्वान् । परि । वृद्धग्धि । तक्मन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( यदि ) चाहे तू ( अर्चिः ) ज्वाला रूप ( यदि वा ) अथवा ( शोचिः ) ताप रूप ( असि ) है ( यदि वा ) अथवा ( ते ) तेरा ( जुनित्रम् ) जन्म स्थान ( शकल्ये षि ) अंग अंग की गति में है । ( हरितस्य ) हे पीले रंग के ( देव ) देने वाले ( ह्रूडुः ) दवाने की कल ( नाम असि ) तेरा नाम है, ( सः ) सो तू ( तक्मन् ) जीवन को कष्ट देने वाले ज्वर ! [ ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर ] ( संविद्वान् ) [ यह बात ] जानता हुआ ( नः ) हमको ( परि वृद्धग्धि ) छोड़ दे ॥ २ ॥

भावार्थ—वह परब्रह्म ज्वर आदि रोग से दुष्कर्मियों की नाड़ी नाड़ी को दुःख से दया डालता है जैसे कोई फिली को दवाने की कल में दबावे ।

तक्मन् । सर्वघातुभ्यो मनिन् । उ० ४। १४५ । इति तकि कृच्छ्र जीवने = दुःखेन जीवने-मनिन् । हे कृच्छ्र जीवनकारिन्, ज्वर ॥

२—यदि । संभावनायाम्, चेत् । अर्चिः । अर्चिशुचिहुसु० । उ० २ । १०८ । इति अर्च पूजायाम्-इति । अर्चिः, शोचिः, ज्वलतो नामधेयेषु-निघ० २ । १७ । ज्वलनकरः । शोचिः । शुच शोके, शोचे—पूर्ववत् इति । शोचति । ज्वलति कर्मा, निघ० १ । १६ । तापकरः । शकल्य-इषि । शकि शम्योर्नित् । उ० १ । ११२ । इति शक्ल शक्ती—कल प्रत्ययः । शक्लः खण्डः । पुनः समूहार्थे—य प्रत्ययः, ततः । क्तिप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति इष गतौ क्तिप् । शकल्यं अंग-



उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सायण भाष्य में ( ह्रूडुः ) के स्थान में [ रुडुः ] पढ़ कर [ रोहकः ] उत्पन्न करने वाला अर्थ किया है ।

यदि शोको यदि वाभिःशोको यदि वा राज्ञो वरुण-  
स्यासि पुत्रः । ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः  
संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ ३ ॥

यदि । शोकः । यदि । वा । अभि-शोकः । यदि । वा । राज्ञः ।  
वरुणस्य । असि । पुत्रः । ह्रूडुः । नाम । असि हरितस्य ।  
देव । सः । नः । सम्-विद्वान् । परि । वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( यदि ) चाहे, तू ( शोकः ) हृदयपीड़क ( यदि वा ) चाहे  
( अभिशोकः ) सर्व शरीर पीड़क है, ( यदि वा ) अथवा तू ( राज्ञः ) तेज वाले  
( वरुणस्य ) सूर्य वा जल का ( पुत्रः ) पुत्र रूप (असि) है । (हरितस्य) हे पीले  
रंग के ( देव ) देने वाले । ( ह्रूडुः ) दवाने की कल ( नाम असि ) तेरा नाम  
है. ( सः ) सो तू, (तक्मन्) हे जीवन को कष्ट देने वाले, ज्वर ! [ ज्वर समान  
पीड़ा देने हारे । ] ( संविद्वान् ) [ यह बात ] जानता हुआ ( नः ) हम को ( परि-  
वृङ्ग्धि ) छोड़ दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मानसिक और शारीरिक पीड़ा, सूर्य की ताप वा जल से  
उत्पन्न ज्वर, और पीलिया आदि रोग, पाप अर्थात् ईश्वरीय नियम से विरुद्ध

असमूहम् इष्यतीति शक्येत् । अंगानां गतौ । जनित्रम् । म० १ । जन्मस्थानम् ।  
ह्रूडुः । ईषेः क्त्वि । उ० १ । ११३ । इति ह्रूडु गतौ, अत्र पीड़ने-कु । पीडा-  
यन्त्रम् । नाम । १ । २ । ३ । प्रसिद्धः । हरितस्य । हज् हरणे—इतन् । रोग-  
जनितस्य पीतवर्णस्य । देव । हे द्योतक, दातः । अन्यद् । व्याख्यातम्,  
म० १ ॥

३—शोकः । शुचि शोके-कर्तरि घञ् । चजोः कुघिण्यतोः । पा० ७ । ३ ।  
५२ । इति कुत्वम् । मनःपीड़कः । अभि-शोकः । सर्वशरीरपीड़कः ।

आचरण का फल है, इस लिये मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक परमेश्वर के नियमों का पालन करें, और दुष्ट आचरण छोड़ कर सुखी रहें ॥ ३ ॥

नमः शीताय तुक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि ।  
यो अन्येद्युः उभयद्युः अभि-एति तृतीयकाय नमो अस्तु  
तुक्मने ॥ ४ ॥

नमः । शीताय । तुक्मने । नमः । रूराय । शोचिषे । कृणोमि ।  
यः । अन्येद्युः । उभयद्युः । अभि-एति । तृतीयकाय । नमः ।  
अस्तु । तुक्मने ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( शीताय ) शीत ( तुक्मने ) जीवन को कष्ट देनेहारे ज्वर [ज्वर रूप परमेश्वर] को ( नमः ) नमस्कार, और ( रूराय ) क्रूर ( शोचिषे ) ताप के ज्वर को [ज्वर रूप परमेश्वर को] ( नमः ) नमस्कार ( कृणोमि ) मैं करता हूँ । ( यः ) जो ( अन्येद्युः ) एकान्तरा ज्वर और ( उभयद्युः ) दो अन्तरा ज्वर ( अभि एति ) चढ़ता है, [तस्मै] [उस ज्वर रूपको और] ( तृतीयकाय ) तिजारी ( तुक्मने ) ज्वर [ज्वर रूप परमेश्वर] को ( नमः ) नमस्कार ( अस्तु ) होवे ॥४॥

राज्ञः । १ । १० । १ । दीप्यमानस्य, तेजस्विनः । वरुणस्य । १ । ३ । ३ । सूर्य-  
तापस्य जलस्य वा । पुत्रः । १ । ११ । ५ । शोधकः । सुतः, तनूजः पुत्रवत्  
उत्पन्तः । अन्यद् व्याख्यानम्-म० २ ॥

४—शीताय । श्यैङ् गतौ-क्त । द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः । पा० ६।१।२४।  
इति नमप्रसारणम् । हलः । पा० ६।४।२। इति दीर्घः । शीतलाय । शीतस्पर्शवते ।  
तुक्मने । म० १ । कृच्छ्रजीवनकारिणे रोगाय, ज्वराय ज्वरसमानाय परमेश्वराय ।  
रूराय । स्फायितञ्चिवञ्चिशकि० । उ० २ । ११ । इति रुङ् वधे-रक्,  
दीर्घञ्च । घातकाय, पीडकाय, क्रूराय । शोचिषे । म० २ । तापकराय ।  
कृणोमि । कृचि हिंसाकरणयोः । करोमि । यः । तक्मा, ज्वरः । अन्येद्युः ।  
अव्ययम् । अन्यस्मिन् दिने, परदिने । उभयद्युः । अव्ययम् । उभयस्मिन् द्वितीये-

भावार्थ—परमेश्वर अनेक प्रकार के ज्वर आदि रोगों से पापियों को कष्ट देता है, उस के क्रोध से भय मान कर हम छोटे कामों से बचकर सदा शान्त चित्त और आनन्द में मग्न रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २६ ।

१--४ ॥ इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

आरे ३' ऽसावस्मद' स्तु हेतिर्देवासो असत् ।

आरे अश्मा यमस्यथ ॥ १ ॥

आरे । असौ । अस्मत् । अस्तु । हेतिः । देवासः । असत् ।

आरे । अश्मा । यम् । अस्यथ ॥ १ ॥

भावार्थ—( देवासः ) हे विजयी शूर वीरो ! ( असौ ) यह ( हेतिः ) सांग वा बरछी ( अस्मत् ) हम से ( आरे ) दूर ( अस्तु ) रहे, और ( अश्मा ) यह पत्थर ( आरे ) दूर ( असत् ) रहे ( यम् ) जिसे ( अस्यथ ) तुम फेंकते हो ॥१॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेना पति लोग चक्रव्यूह, पद्मव्यूह, मकरव्यूह, कौञ्चव्यूह सूचीव्यूह, आदि से अपनी सेना का विन्यास इस प्रकार करें कि शत्रु के अस्त्र शस्त्र का प्रहार अपने प्रजा और सेना के न लगें, और न अपने अस्त्र शस्त्र उलट कर अपने ही लगें, किन्तु शत्रुओं का विध्वंस करें ॥ १ ॥

ऽहनि । अभि-एति । आगच्छति । तृतीयकाय । त्रेः सम्प्रसारणं च । पा० ५ । २ । ५५ । इति त्रि-तीयः पूरणे, सम्प्रसारणं च । स्वार्थे कन् । तृतीयदिने आगच्छते ॥

१—आरे । दूरे । असौ । सा शत्रुप्रयुक्ता । हेतिः । १।१३।३। खट्वाद्या-युधं शक्तिनामास्त्रम् । देवासः । १।७।१। आज्ञासेरसुक् । पा० ७।१।५०। इति असुक् । हे विजयिनो महात्मानः सेनापतयः । असत् । १।२२।२। भवेत् । अश्मा । १।२।२ मेघः, आयुधवृष्टिः । पाषाणः । यम् । अश्मानम् । अस्यथ । असु कोपणे-लट्, दिवादिस्थात् श्यन् । क्यं क्षिपथ ॥

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः ।

सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

सखा । अस्मै । अस्मभ्यम् । अस्तु । रातिः । सखा । इन्द्रः ।  
भगः । सविता । चित्र-राधाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) वह (रातिः) दान शील राजा (अस्मभ्यम्) हमारे लिये  
(सखा) मित्र (अस्तु) होवे, (भगः) सब का सेवनीय, (सविता) लोकों को  
चलाने वाले सूर्य के समान प्रतापी, (चित्रराधाः) अद्भुत धन युक्त (इन्द्रः)  
बड़े पेश्वर्य वाला (सखा) मित्र (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा, सेना और कर्मचारियों पर सदा उदारचित्त  
रहे और सूर्य के समान महा प्रतापी और पेश्वर्यशाली और महाधनी होकर  
सब का हितकारी बने और सब की उन्नति से अपनी उन्नति करे ॥ २ ॥

युयं नः प्रवतो नृपान् मरुतः सूर्यत्वचसः ।

शर्म यच्छाय सुप्रथः ॥ ३ ॥

युयम् । नः । प्र-वतः । नृपात् । मरुतः । सूर्य-त्वचसः ।  
शर्म । यच्छाय । सु-प्रथः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रवतः) हे [अपने] भक्त के (नृपात्) न गिराने हारे राजन् !  
और (सूर्यत्वचसः) हे सूर्य समान प्रताप वाले (मरुतः) शत्रुओं के मारने हारे

२—सखा । १।२०।४ । सुहृत्, मित्रम् । रातिः । किञ्चिच्च संज्ञायाम् ।  
पा० ३ । ३ । १७४ । इति रा दाने-क्तिच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति  
अन्तोदात्तः । उदारः, दाता राजा । इन्द्रः । १ । २ । ३ । परमेश्वर्यवान् । भगः ।  
१ । १४ । १ । भज सेवयाम्-घ । घत्वम् । सर्वैर्भजनीयः, सर्वैः सेवनीयः ।  
सविता । १ । १८ । २ । सर्वप्रेरकः । सर्ववशी, सूर्यवत् प्रतापी । चित्र-  
राधाः । चित्र + राध संसिद्धौ-अस्तुन् । राध इति धननाम रान्धुवन्त्यनेनेति  
पास्कः-मि० ४ । ४ । विचित्रधनयुक्तः, अद्भुतधनः ॥

शूरवीर महात्माओ ! ( यूयम् ) तुम सब ( नः ) हमारे लिये ( सप्रथः ) बहुत विस्तीर्ण ( शर्म ) सुख वा शरण ( यच्छाथ ) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपने भक्तों की रक्षा करने द्वारा राजा और महाप्रतापी धर्म-धुरंधर शूरवीर मन्त्री आदि मिल कर प्रजा की सर्वथा रक्षा करके अपने शरण में रक्खें ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अजमेर वैदिक यन्त्रालय और बंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक के संहिता पाठ में ( सप्रथाः ) पाठ अशुद्ध दीखता है, सायण भाष्य और बंबई के सेवकलाल कृष्णदास शोधित पुस्तक का ( सप्रथः ) पाठ शुद्ध जान कर हमने यहां पर लिया है ॥

सुसूदतं मृडतं मृडय नस्तनुभ्यः ।

मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

सुसूदतं । मृडतं । मृडय । नः । तनुभ्यः । मयः । तोकेभ्यः ।  
कृधि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( सुसूदत ) तुम सब [ हमें ] अंगीकार करो, और ( मृडन ) सुखी करो, [ हे राजन ! ] तू ( नः ) हमारे ( तनुभ्यः ) शरीरों को ( मृडय )

३—यूयम् । प्रवतो नपात् मरुतश्च । प्र-वतः । १ । १३ । २ । भक्तस्य, सेवकस्य । भक्तान् । द्वितीयायां बहुवचनं वा । नपात् । १ । १३ । २ । न पीतयतीति । हे अपातनशील राजन ! । मरुतः । १ । २० । १ । मारयन्ति शत्रून् ते । हे शूरवीराः पुरुषाः । सूर्य-त्वचसः । त्वच संवरणे-असुन् । सूर्यस्य त्वक् संवरणमिव संवरणं येषां ते । सूर्यसमानतेजस्काः । शर्म । १ । २० । ३ । सुखम्, शरणम् । यच्छाथ । दाण् दाने-लेट् । प्रयच्छत, दत्त । स-प्रथः । सह + प्रथ ख्यातौ असुन् । प्रथसा सहितं, सविस्तारम् ॥

४—सुसूदत । सूद आश्रुतिहत्योः । निरासे च । आश्रुतिरङ्गीकारः । इति शब्दकल्पद्रुमः । अङ्गीकुरुत । मृडत । मृड सुखने । सुखयत । मृडय ।

सुख दे और ( तोकेभ्यः ) बालकों को ( मयः ) आनन्द ( रुधि ) कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—महाप्रतापी राजा और सुयोग्य कर्मचारी मिल कर सब प्रजा और उनकी सन्तानों को उत्तम शिक्षा आदि से उन्नति करें और सुख पहुंचाते रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—४ ॥ प्रजापतिर्देवता । १ पंक्तिः ८×५, २—४ अनुष्टुप् ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

अमूः पारे पृदाक्खिप्पमा निर्जरायवः ।

तासां जरायुभिर्वयमक्ष्वा ३ वपि व्ययामस्य-  
घ्रायोः परिपन्थिनः ॥ १ ॥

अमूः । पारे । पृदाक्खिः । त्रि-सुमाः । निः-जरायवः । तासाम् ।  
जरायु-भिः । वयम् । अक्ष्वौ । अपि । व्ययामसि । अघ्र-योः ।  
पिर-पन्थिनः ॥ १ ॥

भाषान्त्र्य—( अमूः ) वह ( त्रिपत्ताः ) तीन [ ऊँचे, मध्यम और नीचे ] स्थान में खड़ा हुई, ( निर्जरायवः ) जरायु [ गर्भ की भिल्ली ] से निकली हुई ( प्रदाक्खः ) सर्पिणी [ वा बाघिनी ] रूप शत्रु सेनाये ( पारे ) उस पार [ वर्तमान ] है । ( तासाम् ) उनकी ( जरायुभिः ) जरायु रूप गुप्त चेष्टाओं सहित [ वर्तमान ] ( अघ्रायोः ) घुरा चोतने वाले, ( परिपन्थिनः ) उलट्टे आचरण वाले शत्रु की ( अक्ष्वौ ) दोनों आँखों को ( वयम् ) हम ( अपि व्ययामसिः ) ढके देते हैं ॥ १ ॥

सुख्य । तनूभ्यः । १ । १ । १ । शरीरेभ्यः । मयः । १ । १३ । २ । सुखम् । १ ।  
तोकेभ्यः । १ । १३ । २ । अपत्येभ्यः ॥

१—अमूः । परिदृश्यमानाः , ताः । पारे । पार कर्मसमाप्तौ-पचाद्यच्, अथवा पृ पूर्ता—घञ् । परतीरे । प्रान्तभागे, सीमाप्रदेशे । पृदाक्खिः । पर्दते-र्नित् सम्प्रसारणमहोपश्व । उ०३ । ८० । इति पर्द अपानशब्दे—काकु, रेफस्य

भावार्थ —जब शत्रु की सेना अपने पड़ावों से निकल कर घात स्थानों पर ऐसी खड़ी होवे, जैसे सर्पिणी वा याघिनी माता के गर्भ से निकल कर बहुत से उपद्रव फैलाती है, तब युद्ध कुशल सेनापति शत्रु सेना की गुप्त कण्ट चेट्टाओं का मर्म समझ कर ऐसी हल चल मचा दे कि शत्रु की दोनों, आँखें हृदय की और मस्तक की मुंद जावे और वह घबराकर हार मान लेंगे ॥ १ ॥

सायणभाष्य में ( निर्जरायवः ) के स्थान में [ निर्जरा इव ] शब्द है ॥

विषूच्येतु कृन्तुती पिनाकमिव विभ्रंती ।

विष्वक् पुनर्भुवा मनोऽसंमृद्धा अघ्रायवः ॥ २ ॥

सम्प्रसारणं अकारलोपश्च । स्त्रियां ऊङ् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदा-  
त्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । पदंते कुन्तितं शब्दयति सा, पृदाकूः  
सर्पिणी व्याघ्री वा । सर्पिण्यो व्याघ्र इव वा दुष्टस्वभाः शत्रुसेनाः ।  
त्रि-सप्ताः । १ । १ । १ । त्रि+पप समवायं—क्त । त्रिषु उच्चमध्यमनीच-  
स्थानेषु सम्यद्धाः, स्थिताः । निः-जरायवः । निर्+जरायवः । १ । ११ । ४ ।  
पिद्भिदादिभ्योऽङ् पा० ३ । ३ । १०४ । इति जृ-प्, घयोहानी-अङ्, टाप् ।  
ऋदृशोऽङि गुणः । पा० ७ । ४ । १६ । इति गुणः । जरा, वार्द्धक्यम्, शरीर-  
निर्वलत्वम् । किंजरयोः श्रिणः । उ० १ । ४ । इति जरा+इण् गतौ-भ्रुण् । जरां  
जीर्णताम् एति जरायुः, गर्भवेष्टनचर्म । निर्गता जरायोः, गर्भवेष्टनात् याः ।  
निर्गतगर्भवेष्टनाः । घातस्थानात् प्रादुर्भूताः । तासाम् । पृदाकूरूपाणां शत्रु-  
सेनानाम् । जरायु-भिः । पूर्ववत्, जरा+इण्-भ्रुण् । गर्भवेष्टनैः । गुप्तकण्ट-  
चेष्टाभिः—इति यावत् । वयस् । योद्धारः पुरुषाः । अघ्रायौ । १ । ८ । ३ । अशू  
व्याप्तौ—विस । यद्वा, अन्तु व्याप्तौ-इन्, ततो ङोप् । छान्दसं रूपम् पूर्ववत्  
स्वरितः । अक्षिणी, उभे मानसिकमास्तिकनेत्रे । अपिद्ययामसि । व्येज्  
संवरणे । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । अपिद्ययामः,  
आच्छादयामः, स्वबुद्धिवलैः प्रमोहयामः । अघ्रायोः । १ । २० । २ । अघं  
परहिंसनमिच्छतीति अघ्रायुः । अनिष्टचारिणः । पापात्मनः । परि-पन्थिनः ।  
छान्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि । पा० ५ । २ । ८६ । इति परि+पथि  
गतौ—णिनि । निपातितः । युद्धे प्रत्यघस्थानुः, प्रतिफूलाचारिणः, शत्रोः ॥

विषू'ची । एतु । कृन्तुती । पिनाकस्-इव । विभ्रती ।

विष्वक् । पुनः-भुवाः । मनः । असम्-वृद्धाः । अघ-यवः ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—( पिनाकम् इव ) त्रिशूल सा ( विभ्रती ) उठाये हुये ( कृन्तुती ) काटती हुयी [ हमारी सेना ] ( विषूची ) सब ओर फैल कर ( एतु ) चले । और ( पुनर्भुवाः ) फिर जुड़ कर आयी हुयी [ शत्रु सेना ] का ( मनः ) मन ( विष्वक् ) इधर उधर उड़ाऊ [ हो जावे ] ( अघायवः ) बुरा चीतने वाले शत्रु लोग ( असमृद्धाः ) निर्धन हो जावे ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—जैसे चतुर सेनापति अख शस्त्र वाली अपनी साहसी सेना के अनेक विभाग करके शत्रुओं पर सफट कर धावा मारता और उन्हें व्याकुल करके भगा देता है जिससे वह लोग फिर न तो एकत्र हो सकते और न धन जोड़ सकते हैं, ऐसे ही बुद्धिमान् मनुष्य कुमार्ग गामिनी इन्द्रियों को बश में करके सुमार्ग में चलाने और आनन्द भागें ॥ २ ॥

सायण भाष्य में ( पुनर्भुवाः ) के स्थान में [ पुनर्भुवाः ] है ॥

न ब्रह्मः समंशकन् नार्भुका अभि दाधृपुः ।

वे गोर्दगा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥

ट—विषूची । १ । १६ । १ । नानाविधं गच्छन्ती , नानामुन्नी । एतु । गच्छतु । कृन्तुती । कृतां छेदने-शत्रु । तुदादित्वात् शः । शे मुच्चादीनाम् । पा० ७ । १ । ५६ । इति लुम् , ततो ङीप् । छिन्दती , भिन्दती शत्रुसेना । पिनाकम् । पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । पारक्षणे पन स्तुतौ वा—आकप्रत्ययेन निपात्यते । त्रिशूलम् । विभ्रती । १ । १ । १ । दुभृज् धारणपोषणयोः—शत्रु । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । धारयन्ती । विष्वक् । १ । १६ । १ । नानामुन्यम् , अनवस्थितम् । पुनः-भुवाः । पुनः + भू सत्तायाम्—क्लिप् । पुनः संघ्राभूनायाः पृदाकाः , शत्रुसंनायाः—इत्यर्थः । मनः । चत्तिम् । असम्-वृद्धाः । ऋधु वृद्धौ-क्त । असम्पन्नाः, निर्धनाः । अघायवः । म० १ । अनिष्ट-घिन्तकाः शत्रवः ॥



न । ब॒हवः । सम् । अ॒श॒कन् । न । अ॒र्भ॒काः । अ॒भि । द॒धृ॒षुः ।  
वे णोः । अ॒द्गाः—इव । अ॒भि॒तः । अ॒स॒म्—मृ॒द्धाः । अ॒घ—यवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( न ) न तो ( ब॒हवः ) बहुत से शत्रु ( स॒मश॒कन् ) समर्थ  
हुये ( न ) और न ( अ॒र्भ॒काः ) वह निर्वल हो जाने पर ( अ॒भि॒दा॒धृ॒षुः ) कुछ  
साहस कर सके, ( वे॒णोः ) वांस के ( अ॒द्गाः ) मालपुत्रों के ( इ॒व ) समान  
( अ॒घाय॒वः ) बुरा चाँतने वाले शत्रु ( अ॒स॒मृ॒द्धाः ) निर्धन [ होवें ] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारी दुष्टों को ऐसा वश में करे कि वह एकत्र न  
हो सकें और न सता सकें, और जैसे नोरस सूखे वांस आदि तृण का भोजन  
पुष्टिदायक नहीं होता, इसी प्रकार सर्वथा निर्वल कर दिये जावें । इसी प्रकार  
मनुष्य आत्म शिक्षा करें ॥ ३ ॥

सायणभाष्य में ( दा॒धृ॒षुः ) के स्थान में [ दा॒दृ॒शुः ] और ( अ॒द्गाः ) के  
स्थान में [ उ॒द्गाः ] है ॥

मेतै॑ पादौ प्र स्फु॑रत् वहे॑तं पृ॒णु॒तो गु॒हान् ।

इन्द्रा॑ण्येतु प्रथ॑माजीतामु॑पिता पुरः ॥ ४ ॥

३—ब॒हवः । लङ्घि॒वंहो॒र्नलो॒पश्च । उ० १ । २६ । इति॒यहि॒ वृद्धौ॒-कु॒ नस्य  
लोपः । वि॒पुलाः, ह॒स्त्य॒श्वर॒रथ॒पदा॒तियु॒क्ताः शत्र॒वः । स॒म् । स॒म्यक्, अ॒ल्पम॒-  
पीत्यर्थः । अ॒श॒कन् । श॒कल॒ श॒क्तौ-लुङ् । जेतुं॑ श॒क्ता अ॒भूवन् । अ॒र्भ॒काः ।  
अ॒र्त्तिगृ॒भ्यां भन् । उ० ३ । १५२ । इति ऋ॒ गतौ॒-भन् स्वार्थे-कन् । द॒धृ॒ममृ॒द्धमि॒-  
त्यल्पस्य । इति यास्कः—निरु० ३ । २० । अ॒ल्पाः, निर्व॒लाः । अ॒भि । आ॒भिमु॒-  
ख्येन । दा॒धृ॒षु । धृ॒षु संह॒तौ, हिंसे, प्रा॒गल्भ्ये-लिट् । दी॒र्घः । धृ॒ष्टाः प्र॒गल्भा  
व॒भूवुः । वे॒णोः । अ॒जि॒वृ॒रीभ्यो निष् । उ० ३ । ३८ । इति अ॒ज गति॒क्षेप॒णयोः—  
णु । वी॒भावो गु॒णश्च । वंश॒काण्ड॒स्य नी॒रस॒तृण॒स्य इत्यर्थः । अ॒द्गाः । गन्  
ग॒म्यद्योः । उ० १ । १२३ । इति अ॒द भ॒क्षणे-गन् । अ॒घ॒ते भ॒क्ष्यते स अ॒द्गः । पुरो॒-  
डा॒शाः । अ॒भि॒तः । स॒र्वतः । अ॒न्यद् व्याख्यातम् । म० २ ॥

प्र । इतम् । पादौ । प्र । स्फुरतम् । वहतम् । पृणतः । गृहान् ।  
इन्द्राणी । एतु । प्रथमा । अजीता । अमुषिता । पुरः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पादौ) हे हमारे दोनों पांव (प्रेतम्) आगे बढ़ो, (प्रस्फुरतम्) फुरती करे जाओ, (पृणतः) तृप्त करने वाले (गृहान्) कुटुम्बियों के पास [ हमें ] (वहतम्) पहुंचाओ । (प्रथमा) अपूर्व वा विख्यात (अजीता=अजिता) बिना जीती और (अमुषिता) बिना लूटी हुई (इन्द्राणी) इन्द्र की शक्ति, महा सम्पत्ति (पुरः) [ हमारे ] आगे आगे (एतु) चले ॥ ४ ॥

भावार्थ—१, महा प्रतापी शूरवीर पुरुषार्थी राजा विजय करके और बहुत धन प्राप्त करके सावधान होकर अपने घर को लौटे, और अपने मित्रों में अनेक प्रकार से उन्नति करके सुख भोग करे ॥

२—जितेन्द्रिय पुरुष आत्मस्थ परमेश्वर के दर्शन से परोपकार करके सुख प्राप्त करे ॥ ४ ॥

(इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये) ऋ० १।२२।१२।

इस मन्त्र में (इन्द्राणी) इन्द्र सूर्य वा वायु की शक्ति और (वरुणानी) वरुण जल की शक्ति ऐसा अर्थ श्रीमद् दयानन्द भाष्य में है ॥

४—प्र+इतम् । इण् गतौ—लोट् । युवां प्रकर्षेण गच्छतम् । पादौ ।  
हे मम पादौ । स्फुरतम् । स्फुर स्फुर्तौ, चलने च—लोट् । शीघ्रं चलतम् ।  
वहतम् । वह प्रापणे—लोट्, द्विकर्मकः । अस्मान् प्रापयतम् । पृणतः । पृण  
तर्पणे, तुदादिः—शतृ । तर्पयितृन् सुखयितृन् पुरुषान् । गृहान् । पुंलिङ्गम् ।  
गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह आदाने—क । दारान् दागदीन् गृहस्थान्  
प्रति । इन्द्राणी । इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी—निरु० ११ । ३७ । इन्द्रस्य विभूतिः—  
इति दुर्गाचार्यस्तद्वृत्तौ । इन्द्रवरुणभवशर्व० । पा० ४ । १ । ४६ । इति इन्द्र-  
ङीप् आनुक् च । इन्द्रस्य ऐश्वर्यशालिनः पत्नी पालयित्री शक्तिः । महासमृद्धिः  
महालक्ष्मीः । एतु । इण्—गतौ । गच्छतु । प्रथमा । १ । १२ । १ । अपूर्वा ।  
प्रख्याता, उत्कृष्टा । अजीता । जि-क्त । सांहितिको दीर्घः । अनिर्जिता,  
अपराभूता । अमुषिता । मुष वधे, लुण्ठने—क्त । अनपहृता । पुरः । पुर-  
स्तात् । अस्माकम् अग्रे ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—४ । अग्निदेवता । १-३ अनुष्टुप्, ४ पङ्क्तिः ।

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

उप प्रागाद् देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः ।

दहन् अप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥ १ ॥

उप । प्र । अगात् । देवः । अग्निः । रक्षः-हा । अमीव-चातनः ।  
दहन् । अप । द्वयाविनः । यातु-धानान् । किमीदिनः ॥ १॥

भाषार्थ—(रक्षोहा) राक्षसोंका मार डालने वाला (अमीवचातनः) दुःख  
मिटाने वाला (देवः) विजयी (अग्निः) अग्नि रूप सेनापति (द्वयाविनः)  
दुमुखे कपटी, (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले (किमीदिनः) यद्यप्य है यद्य-  
प्य है ऐसा करने वाले छली सूचकों वा लंगटों को (अप दहन्) मिटाकर भस्म  
करता हुआ (उप) हमारे समीप (प्र-अगात्) आ पहुँचा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जय सेनापति अग्नि रूप होकर शतघ्नी [तोप] भुशुण्डी  
[बन्दूक] धनुष् घाण तरवारि आदि अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं का नाश करता है  
तब राज्य में शान्ति रहती है ॥ १ ॥

१—अगात् । इण गतौ-लुङ् । अगमत् । देवः । १ । ७ । १ । विजयी ।  
अग्निः । अग्निवत् तेजस्वी सेनापतिः । रक्षः-हा । रक्ष पलने-अपादाने, अघ्नन्  
रक्षो रक्षितव्यमस्मात् । इति यास्कः-निरु ४ । १२ । बहुलं छन्दसि । पा० ३ ।  
१२ । २२ । इति रक्षः+हन-क्लिप् । हिंसकानां हन्ता । अमीव-चातनः ।  
इणशीभ्यांघन् । उ० १ । १५२ । इति याहुलकात् अम रोगे-घन्, ईडानमः ।  
अमीवं दुःखम् । चातयतिर्नाशने-निरु० ६ । ३० । दुःखानां नाशयिता ।  
अप+दहन् । दह-शतृ । संतापयन्, भस्मसात् कुर्वन् । द्वयाविनः । द्वयं  
वाचिकं माधुर्यं मानसिकं हिंसनं च येषामस्तीति । बहुलं छन्दसि ॥ पा० ५ ।  
२ । १२२ । इति द्वय-विनिप्रत्ययः । दीर्घश्च । मःयाविनः । यातु-धानान् ।  
१ । ७ । १ । पीडाप्रदान् । किमीदिनः, १ । ७ । १ । पिशुनान्, कपटिनः,  
सूचकान् ॥

प्रति दह यातुधानान् प्रति देव किमीदिनः ।

प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

प्रति । दह । यातु-धानान् । प्रति । देव । किमीदिनः ।

प्रतीचीः । कृष्ण-वर्तने । सम् । दह । यातु-धान्यः ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—(देव) हे विजयी सेनापति (यातुधानान्) दुःखदायी और द्वारा (किमीदिनः) क्या क्या करने द्वारे छली सूचकों को (प्रति) एक एक करके (प्रतिदह) जला दे । (कृष्णवर्तने) हे धूँआ धाड़ मार्गवाले अग्नि रूप सेनापति (प्रतीचीः) सन्मुख धावा करती हुयी (यातुधान्यः=०-नीः) दुःखदायिनी शत्रु सेनाओं को (सम् दह) चारों ओर से भस्म कर दे ॥ २ ॥

भावार्थ—युद्धकुशल सेनापति अपने घातस्थानों से तोप तुपक आदि द्वारा अग्नि के समान धुआं धाड़ करता हुआ शत्रुओं के मुखियाओं और सेनादलों को व्याकुल करके भस्म कर देवे ॥ २

सायण भाष्य में (कृष्णवर्तने) के स्थान में [कृष्णवर्तमने] पद और उस का अर्थ [हे कृष्णवर्तमन्] है ॥

या शुशाप शपनेन याघं मूरमादुधे ।

या संस्य हरणाय जातमारेभे लोकमन्तु सा ॥३॥

२—प्रति । प्रतिमुखम् । प्रत्येकम् । दह । भस्मीकुरु, यातु-धानान् । म० १ । पीडादातृन्, राक्षसान् । देव । म० १ । हे विजयशील । किमीदिनः । म० १ । पिशुनान् । प्रतीचीः । ऋत्विग्दधूक० । पा० ३ । ३ । ५६ । इति । प्रति + अञ्चु गतिपूजनयोः-किन् । नलोपः । डीप् । यथा विपूचीः शब्दः, १ । १६ । १ । प्रतिकूलं गच्छन्तीः । कृष्ण-वर्तने । वृतेष्व । उ० २ । १०६ । इति वृत्तवर्तने-अग्नि । कृष्णा कृष्णावर्णा शतघ्नी भुशुण्ड्यादिप्रसारितधूमेन वर्तनिः वर्तिः पन्थाः यस्य सः, अग्निर्वा । हे कृष्णमार्ग, अग्निरूपसेनापते । सम् । साम्यक्, सर्वथा । यातु-धान्यः । पुंयोगादाख्यायाम् । पा० ४ । १ । ४८ । इति यातु-धान-डीप्, शसः स्थाने ङ्दसि जस् । यणि कृते स्वरितः । यातुधानीः पीडा-दायिनीः शत्रुसेनाः ॥

या । शृशापं । शपनेन । या । अघम् । सूरम् । आ-दधे ।  
या । रसस्य । हरणाय । जातम् । आ-रेभे । तोकम् । अन्तु । सा ॥३॥

भाषार्थ—(या) जिस [शत्रुसेना] ने (शपनेन) शाप [कुवचन] से (शशाप) कोसा है और (या) जिस ने (अघम्) दुःख को (सूरम्) मूल को (आदधे) आकर जमाया है । और (या) जिस ने (रसस्य) रसके (हरणाय) हरण के लिये (जातम्) [हमारे] समूह को (आरेभे) दाथ लगाया है, (सा) वह [शत्रुसेना] (तोकम्) अपनी बढ़ती वा सन्तान को (अन्तु) खालेवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—रण क्षेत्र में जब शत्रु सेना कोलाहल मचाती, धावा मारती और लूट खसोट करती आगे बढ़ती आवे, तो युद्धकुशल सेनापति शत्रुओं में भेद डाल दे कि वह लोग आपस में लड़ मरें और अपने सन्तान अर्थात् हितकारियों का ही नाश करदे ॥ ३ ॥

सायण भाष्य में (आदधे) के स्थान में [आददे] पाठ है ॥

३—या । यातुधानी शत्रुसेना । शशाप । शप आक्रोशे—लिट् । शापं । अनिष्टकथनं कृतवती । शपनेन । शप आक्रोशे—करणे ल्युट् । आक्रोशेन , कुवचनेन । अघम् । अघ पापकरणे—णिच्—अच् । पापं . दुःखम् । दुःख-करम् । सूरम् । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति मुर्धा मोहसमुच्चययोः—किप् । राल् लोपः । पा० ६ । ४ । २१ । इति छकारलोपः । मूर्द्धाकरम् । यद्वा । मूल, प्रतिष्ठायाम्, रोपणे-कु, लस्य रकारः । मूलम् । प्रतिष्ठाम् । अघं सूरम् । दुःखकरं मूलं शरणम् । आ-दधे । आङ्+डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च—लिट् । परि जग्राह । रसस्य । रस आस्वादे-पचाद्यच् । सारस्य, बलस्य, धनस्य, आनन्दस्य । हरणाय । अपहरणाय, नाशनाय । जातम् । जनी प्रादुर्भावे-क्त । अस्माकं समूहम् । आ-रेभे । आङ्पूर्वात् लग्न लम्भे=स्पर्शे-लिट्, लस्य रकारः । आलेभे, स्पृष्टवती । तोकम् । १ । १३ । २ । वृद्धि-करं । सन्तानम् । अन्तु । अक्षयतु नाशयतु । सा । शत्रुसेना ।

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नृप्यम् ।

अधो मिथो विकेश्यो ३ वि घृतां यातुधान्यो ३  
वि तृह्यन्तामराय्यः ॥ ४ ॥

पुत्रम् । अत्तु । यातु-धानीः । स्वसारम् । उत । नृप्यम् ।  
अधो । मिथः । वि-केश्यः । वि । घृताम् । यातु-धान्यः ।  
वि । तृह्यन्ताम् । अराय्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( यातुधानीः=०—नी ) दुःख दायिनी, [शत्रुसेना] ( पुत्रम् )  
[अपने] पुत्र को, (स्वसारम्) भली भाँति काम पूरा करने हारी बहिन को (उत)  
और ( नृप्यम्=नृपीम् ) नातिनी वा धेवती को (अत्तु) खालेबे अर्थात् नष्ट  
करे । (अध) और (विकेश्यः) केश बिखरे हुये वह सब [सेनायें] (मिथः)आपस  
में ( विघृताम् ) मर मिटें और (अराय्यः) दान अर्थात् कर न देने हारी (यातु-  
धान्यः) दुःख पहुँचाने हारी [शत्रु प्रजायें] (वितृह्यन्ताम्) विविध प्रकार के दुःख  
उठावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति राजा अपनी बुद्धि बल से दुष्ट शत्रुसेना में  
हलचल मचादे कि वह सब घबराकर आपस में कट मर कर एक दूसरे को  
सताने लगे और जो प्रजा गण हट दुराग्रह करके, कर आदि न दें उन को दण्ड  
देकर वश में कर लेवे ॥ ४ ॥

४—पुत्रम् । १।११।५। स्वसुतम् । यातु-धानीः । म० २। प्रथमैक-  
वचनं छन्दसि यथा श्रीः । यातुधानी, दुःखप्रदा, शत्रुसेना । स्वसारम् ।  
सावसेर्द्धन् । उ० २। ६६। इति सु + असु क्षेपणे-ऋन् । सुष्ठु अस्यति समा-  
प्नोति कार्याणि सा स्वसा । भगिनीम् । उत । अपि च । नृप्यम् । नृप्यनेष्ट्वष्ट-  
होतृ० उ० २। ६५। इति न + पत अधोगमने-तृच् । न पतति वंशो यस्मात् स  
नप्ता । ऋन्नेभ्योर्ङीप् । पा० ४। १। ५। इति नृप्यशब्दात् ङीप् । वा छन्दसि ।  
पा० ६। १। १०६। इति पूर्व रूपस्य विकल्पाद् यणादेशः । नन्नीम्, पौत्रीं दौहि-  
त्रीं वा । अध । यस्य धः । अथ, अनन्तरम् । मिथः । मिथ वधे, मेघायाम्-

तीनों संहिताओं में ( यातुधानीः ) सविसर्ग पाठ लेख प्रमाद दीक्षता है ।  
सायण भाष्य में ( यातुधानी ) विसर्ग रहित व्याख्यात है वह ( अत्तु ) क्रिया  
के संबन्ध में ठीक है॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

## अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥



सूक्तम् २८ ।

१—६ ॥ ब्रह्मणस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के लिये उपदेश ॥

अभि-वर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावुधे ।

तेनास्मान् ब्रह्मणस्पते ऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

अभि-वर्तेन । मणिना । येन । इन्द्रः । अभि-ववुधे ।

तेन । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अभि । राष्ट्राय । वर्धय ॥ १ ॥

भाषार्थ—( येन ) जिस ( अभिवर्तेन ) विजय करने वाले , ( मणिना )  
मणि से [ प्रशंसनीय सामर्थ्य वा धन से ] ( इन्द्रः ) बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष

असुन, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः । अन्योऽन्यम् परस्परम् । वि-केश्यः । स्वाहा-  
च्चोपसर्जनाद् सं० । पा० ४ । १ । ५४ । इति विकेश-ङीप् । विकीर्णकेशयुक्ताः  
परस्परताडने न वि । विविधम् । प्रताम् । हन हिंसागत्योः-लोटि बहु-  
वचने । हन्यन्ताम् । घ्रियन्ताम् । यातुधान्यः । म० १ । पीडाप्रदाः शत्रुसेनाः ।  
तृह्यन्ताम् । तृह हिंसायाम्-कर्मणि लोट् । हिंस्यन्ताम् । अराय्यः ।  
रा दाने-घञ् शुक् आगमः, ङीप् । अदानशीलाः प्रजाः ॥

१अभि—वर्तेन । अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १६ । इति  
अभि + वृत्तु वर्तने भवने—घञ् छान्दसो दीर्घः । अभिवर्तते अभिभवति शत्रून्

( अभि ) सर्वथा ( ववृधे ) बढ़ा था । ( तेन ) उसी से , ( ब्रह्मणस्पते ) हे वेद वा ब्रह्मा [ वेदवेत्ता ] के रक्षक परमेश्वर ! ( अस्मान् ) हम लोगों को ( राष्ट्राय ) राज्य भोगने के लिये ( अभि ) सब ओर से ( वर्धय ) तू बढ़ा ॥ १ ॥

भाषार्य—जिस प्रकार हम से पहिले मनुष्य उत्तम सामर्थ्य और धन को पाकर महा प्रतापी हुये हैं, वैसे ही उस सर्व शक्तिमान् जगदीश्वर के अनन्त सामर्थ्य और उपकार का विचार करके हम लोग पूर्ण पुरुषार्थ के साथ (मणि) विद्याधन और सुवर्ण आदि धन की प्राप्ति से सर्वदा उन्नति करके राज्य का पालन करें ॥ १ ॥

मन्त्र १-३, ६ ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १७४ । म० १-३ और ५ कुछ भेद से हैं । जैसे ( मणिना ) के स्थान में [ हविषा ] पद है, इत्यादि ॥

अभिवृत्त्यं सुपत्नानभि या नो अरातयः ।

अभि पृतन्यन्तं तिष्ठामि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

अभि-वृत्त्यं । सु-पत्नान् । अभि । याः । नुः । अरातयः ।

अभि । पृतन्यन्तंम् । तिष्ठ । अभि । यः नु । दुरस्यति ॥ २ ॥

भाषार्य—[ हे ब्रह्मणस्पते ] ( सपत्नान् ) [ हमारे ] प्रतिपक्षियों को, और ( याः ) जो ( नः ) हमारी ( अरातयः ) कर न देने हारी प्रजायें हैं,

न अभिवर्तः । अभिभवनशीलेन , जयशीलेन । मणिना । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । मणि कृजे—इन् । रत्नेन , प्रशंसनीयसामर्थ्येन धनेन , वा राज-चिह्नेन । इन्द्रः । १ । २ । ३ । परमेश्वर्यवान् पुरुषो जीवः । अभि-ववृधे । वृधु वृद्धौ—लिट् तुजादीनां दीर्घाऽभ्यासस्य । पा० ६ । १ । ७ । इति दीर्घः । अभिनः सर्वतः प्रवृद्धो बभूव । तेन । मणिना । ब्रह्मणः+पते । १ । ८ । ४ । १ । १ । १ । पृच्छाः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । हे ब्रह्मणा वेदस्य विप्रस्य वा गालक परमेश्वर । । राष्ट्राय । सर्वधातुभ्यः ष्टन् । उ० ४ । १५६ । इति राज् दीप्ती पेश्वर्ये च ष्टन् । राजति पेश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ । अयचभ्रजजगृज० । पा० ८ । २ । ३६ । इति पः । राज्यवर्धनाय वर्धय । वृधु वृद्धौ—णिच् लोट् । समर्थय , समृद्धान् कुरु ॥



• [ उनको ] ( अभि ) सर्वथा ( अभिवृत्त्य ) जीतकर ( प्रतन्यन्तम् ) सेना चढ़ा कर लाने वाले शत्रु को [ और उस पुरुष को ] ( यः ) जो ( नः ) हम से ( दुरस्यति ) दुष्ट आचरण करे , ( अभि ) सर्वथा ( अभि तिष्ठ ) तू दया ले ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर पर श्रद्धा कर के अपने स्वदेशी और विदेशी दोनों प्रकार के शत्रुओं को यथा योग्य दंड देकर वश में रखे ॥ २ ॥

टिप्पणी—( अरातयः ) शब्द का अर्थ ऋ० १० । १७४ । २ । में सायणाचार्य ने भी अदानशील प्रजा किया है ॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।

अभि त्वा विश्वा भुतान्यभिवर्त याथासंसि ॥ ३ ॥

अभि । त्वा । देवः । सविता । अभि । सोमः । अवीवृधत् ।

अभि । त्वा । विश्वा । भुतानि । अभि-वर्तः । याथा । असंसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[ हे परमेश्वर ! ] ( देवः ) प्रकाशमय ( सविता ) लोकों के चलाने वाले, सूर्य और ( सोमः ) अमृत देने वाले, चन्द्रमा ने ( त्वा ) तेरी

२—अभि-वृत्त्य । अभि + वृत्तु—ल्यप् । अभिभूय , पराजित्य । स-पत्नान् । १ । ६ । १ प्रतियोगिनः स्वदेशिनः शत्रून् । अभि । अभितः । सर्वथा । याः । ताः याः । अरातयः । १ । २ । २ । अदानशीलाः प्रजाः । इति साय-णोऽपि ऋ० १० । १७४ । २ । अभि + तिष्ठ । अभिभव, पराजय, त्वं ब्रह्मणस्पते । पृतन्यन्तम् । १ । ३१ । २ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । २ । इति पृतना क्यच्-शतृ । पृतनाः सेना आत्मानमिच्छन्तं युयुत्सुम् । यः = तम् यः । नः । अस्मान् । दुरस्यति । दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृपण्यति रिपण्यति । पा० ७ । ४ । ३६ । इति क्यचि दुष्ट शब्दस्य दुरस् भावो निपात्यते । दुष्टीयति दुष्टम् । अनिष्टं कर्तुमिच्छति ॥

३—अभि । अभितः सर्वतः । त्वा । त्वाम् ब्रह्मणस्पतिम् । देवः । प्रकाशमयः । सविता । १ । १८ । २ । सूर्यः । सोमः । १ । ६ । २ । सवति अमृ-

(अभि अभि) सच प्रकार से (अवीवृधत्) बड़ाई की है । और (विश्वा) सब (भूतानि) सृष्टि के पदार्थों ने (त्वा) तेरी (अभि) सच प्रकार [बड़ाई की है,] (यथा) क्योंकि त् (अभिवर्तः) [शत्रुओं का] दबाने वाला (अससि) है ॥३॥

भावार्थ—सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थों की रचना और उपकार से उस परमेश्वर की महिमा दीख पड़ती है, उसी अन्तर्यामी के दिये हुये आत्मबल से शूर वीर पुरुष रणभूमि में राक्षसों को जीत कर राज्य में शान्ति फैलाते हैं ॥ ३ ॥

अ॒भि॒व॒र्तो॑ अ॒भि॒भ॒वः स॑प॒त्न॒क्षय॑णो म॒णिः ।

रा॒ष्ट्राय॑ म॒ह्यं व॑ध्यतां सु॒प॒त्नै॑भ्यः प॒रा॒भुवै॑ ॥ ४ ॥

अ॒भि॒व॒र्तः । अ॒भि॒भ॒वः । स॒प॒त्न॒क्षय॑णः । म॒णिः ।

रा॒ष्ट्राय॑ । म॒ह्यं॑ । व॒ध्य॑ताम् । सु॒प॒त्नै॑भ्यः । प॒रा॒भुवै॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अभिवर्तः) शत्रुओं का जीतने वाला, और (अभिभवः) हराने वाला, और (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षियों का नाश करने वाला (मणिः) मणि [प्रशंसनीय सामर्थ्य] रक्षा आदि राज्य चिन्ह (मह्यम्) मुझपर (राष्ट्राय)

तम् । चन्द्रः । अवीवृधत् । वृधुवृद्धौ, णिच्-लुङ् । वर्धितवान्, अस्तावीत् । अभि=अभि अवीवृधन् अस्तुवन् । विश्वा । शैर्लुक् । विश्वानि सर्वाणि । भूतानि । प्राणिजातानि, चराचरात्मकानि वस्तून्, तत्त्वानि । अभिवर्तः— । म० १ । वृनु-घञ् । अभिभविता, शत्रुजेता । यथा । यस्मात् कारणात् । अससि । अस्म भुवि-लट् । यदुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । इति शपोऽलुक् । असि भवसि ॥

४—अभिवर्तः । म० १ । जयशीलः । अभिभवः । अभि+भू-अप् । अभिभविता । सपत्न-क्षयणः । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति सपत्न पूर्वात् द्वि क्षये-कर्तरि ल्यु । शत्रूणां क्षयकरः । मणिः ।

राज्य की वृद्धि के लिये और ( सपत्नेभ्यः ) वैरियों को ( पराभुवे ) दवाने के लिये ( वध्यताम् ) बांधा जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—राज्य लक्ष्मी का प्रभाव जताने के लिये राजा मणि रत्न आदि को धारण करके अपना सामर्थ्य बढ़ावे और राज सभा में राज सिंहासन पर विराजे कि जिससे शत्रु दल भयभीत होकर आक्षाकारी बने रहें और राज्य में ऐश्वर्य की सदा वृद्धि होवे ॥ ४ ॥

उत्सौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।

यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥

उत् । उत्सौ । सूर्यः । अगात् । उत् । इदम् । मामकम् । वचः ।  
यथा । अहम् । शत्रु-हः । असानि । असपत्नः । सपत्न-हा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(उत्सौ) वह (सूर्यः) लोकों का चलाने द्वारा सूर्य (उत् अगात्) उदय हुआ है और ( इदम् ) यह (मामकम्) मेरा (वचः) वचन ( उत्=उत् अगात्) उदय हुआ है (यथा) जिस से कि ( अहम् ) मैं (शत्रुहः) शत्रुओं का

म० १ । रत्नम् । प्रशस्तं समर्थम् । राष्ट्राय । म० १ । राज्यवर्धनाय । सहयम् ।  
मदर्थम् । वध्यताम् । बन्ध बन्धने, कर्मणि लोट् । धार्यताम् । सपत्नेभ्यः ।  
शत्रुभ्यः । पराभुवे । परा+भू-भावे क्तिप् । पराभवनाय ॥

५—उत्+अगात् । १ । २८ । १ । उदितवान् । सूर्यः । १ । ३ । ५ ।  
लोकानां प्रेरकः । आदित्यः, राज्यलक्ष्मीरूपः । उत्=उत् अगात् । इदम् ।  
वक्ष्यमाणं वचनम् । मामकम् । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति अस्मद्  
अण् । तवकममकावेकवचने । पा० ४ । ३ । ३ । इति ममकादेशः । मदीयम् ।  
वचः । वच कथने-असुन् । वाक्यम् वचनम् । यथा । येन कारणेन ।  
अहम् । राजा । शत्रु-हः । अशिपि हनः । पा० ३ । २ । ४६ । इति शत्रु+हन  
हिंसागत्योः-डप्रत्ययः । शत्रूणां हन्ता । असानि । अस सत्तायां-लोट् । अहं

मारने वाला, और ( सपत्नहा ) रिपु दल का नाश करने वाला होकर ( अस-  
पत्नः ) शत्रु रहित ( असानि ) रहूं ॥ ५ ॥

भाषार्थ—राजा राज सिंहासन पर विराज कर राजघोषणा करे कि  
जिस प्रकार पृथिवी पर सूर्य प्रकाशित है उसी प्रकार से यह राज घोषणा  
[ ढंडारा ] प्रकाशित की जाती है कि राज्य में कोई उपद्रव न मचावे, और न  
अराजकता फैलावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋ० १० । १५६ । १ । का पूर्वार्ध है वहां ( वचः ) के  
स्थान में ( भगः ) है ॥

सुपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासुहिः ।

यथाहमे पां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

सुपत्न-क्षयणः । वृषा । अभि-राष्ट्राय । वि-सुसुहिः ।

यथा । अहम् । एषास् । वीराणाम् । वि-राजानि । जनस्य । च ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( यथा ) जिस से कि ( सपत्नक्षयणः ) शत्रुओं का नाश करने  
वाला ( वृषा ) ऐश्वर्य वाला ( विषासुहिः ) सदा विजय वाला ( अहम् ) मैं  
( अभिराष्ट्रः ) राज्य पाकर ( एषाम् ) इन ( वीराणाम् ) वीर पुरुषों का ( च )  
और ( जनस्य ) लोकों का ( विराजानि ) राजा रहूं ॥ ६ ॥

भगानि । असपत्नः । म० २ । शत्रुरहितः । सपत्नहा । किप्च । पा० ३ । २ ।  
७६ । इति सपत्न + हन-किप् । रिपुहन्ता ॥

६—सपत्न-क्षयणः । म० ४ । शत्रुनाशकः । वृषा । १ । १२ । १ । वृषु  
ऐश्वर्ये-कनिन् । ऐश्वर्यवान् । सुखवर्षकः । इन्द्रः । महावली । अभि-राष्ट्रः ।  
म० १ । अभिगत-राज्यः । प्राप्त-राज्यः । विषासुहिः । सहिवहिचलिपतिभ्यो  
यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ । वा० पा० ३ । २ । १७१ । इति पह अभिभवे-कि ।  
अत्रालोपयलोपौ । विविधं पुनः पुनः परेषां सोढा , अभिभविता । एषास् ।  
उपस्थितानाम् । वीराणाम् । वीर विक्रान्तौ-पचाद्यच् । विक्रान्तातां , शूरा-  
णाम् , भट्टानाम् । वि-राजानि । राजति=ईष्टे—निघ० २ । २१ । ईश्वरः

भाषार्थ—राजा सिंहासन पर विराज कर राजघोषणा करते हुये शूरवीर योद्धाओं और विद्वान् जनों का सत्कार और मान करके शासन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१—४ ॥ विश्वे देवा देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के उपदेश ॥

विश्वे देवा वसवो रक्षते ममुतादित्या जागृत यूय-  
मस्मिन् । मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्ममं प्रापत्  
पौरुषेयो वृधो यः ॥ १ ॥

विश्वे । देवाः । वसवः । रक्षते । इमम् । उत । आदित्याः ।  
जागृत । यूयम् । अस्मिन् । मा । इमम् । स-नाभिः । उत ।  
वा । अन्य-नाभिः । मा । इमम् । प्र । आपत् । पौरुषेयः ।  
वृधः । यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( वसवः ) हे श्रेष्ठ ( विश्वे ) स्वयं ( देवाः ) प्रकाशमान महा-  
त्माओ ! ( इमम् ) इस पुरुष की ( रक्षते ) रक्षा करो, ( उत ) और ( आदित्याः )  
हे सूर्य समान तेज वाले विद्वानो ! ( यूयम् ) तुम ( अस्मिन् ) इस राजा के  
विषय में ( जागृत ) जागते रहो । ( सनाभिः ) अपने वन्धु का, ( उत वा )

शासिता भवानि । जनस्य । जनी प्रादुर्भावे-अच् । अधीगर्थदयेपां कर्मणि ।  
पा० २ । ३ । ५२ । इति षष्ठी । लोकस्य, प्राणिजातस्य ॥

१—देवाः । १ । ७ । १ । विजयिनः पुरुषाः । वसवः । १ । ६ । १ । निवा-  
सयितारः । प्रशस्ताः श्रेष्ठाः । रक्षते । पालयते । इमम् । माम् राजानम् ।  
आदित्याः । १ । ६ । १ । विद्यादिशुभगुणनां रसस्य आदातारो ग्रहीतारः ।  
अथवा आदित्यवत् तेजस्विनः महाविद्वांसः । जागृत । जागृ निद्राक्षये—  
लोड् । प्रबुद्धा रक्षार्थम् अवहिताः संनद्धा भवत । मा । निषेधे । स-नाभिः ।

अथवा ( अन्यनाभिः ) अयन्धु का, अथवा ( पौरुषेयः ) किसी और पुरुष का किया हुआ, ( यः ) जो ( वधः ) वध का यत्न है [ वह ] ( इमम् ) इस ( इमम् ) इस पुरुष को ( मा मा ) कभी न ( प्रापत् ) पहुँच सके ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने सुपरीक्षित न्याय, मन्त्री और युद्ध मन्त्री। आदि कर्मचारी शूरवीरों को राज्य की रक्षा के लिये सदा चेतन्य करता रहे कि कोई सजाती वा स्वदेशी वा विदेशी पुरुष प्रजा में अराजकता न फैलावे ॥ ३ ॥

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुते द-  
मुक्तम् । सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्यैनं जरसे  
वहाथ ॥ २ ॥

ये । वः । देवाः । पितरः । ये । च । पुत्राः । स-चेतसः । मे ।  
शृणुते । इदम् । उक्तम् । सर्वेभ्यः । वः । परि । ददामि ।  
एतम् । स्वस्ति । एनम् । जरसे । वहाथ ॥ २ ॥

भाषार्थ—( देवाः ) हे विजयी देवताओं। और ( ये ) जो ( वः ) तुम्हारे ( पितरः ) पितृगण ( च ) और ( ये ) जो ( पुत्राः ) पुत्रगण हैं, वह तुम सब ( सचेतसः ) सावधान हो कर ( मे ) मेरे ( इदम् ) इस ( उक्तम् ) वचन को

नहो भश्च । उ० ४ । १२६ । इति एह वधने-कर्मणि इज् समानस्य सः । समा-  
नेन स्वकीयेन संबद्धः । स्वजातिकृतो वधः । अन्य-नाभिः । अन्येन संबद्धः ।  
अज्ञातिकृतो वधः प्र+प्रापत् । आप्ल व्याप्ति—लुङि । प्राप्नोतु । पौरुषेयः ।  
सर्वपुरुषाभ्यां ण्डञौ । पा० ५ । १ । १० । इत्यत्र । पुरुषाद् वधविकारसङ्ग्रह-  
तेनकृतेषु । चार्तिकम् । इति पुरुष-ढञ् । पुरुषकृतः । वधः । १ । २० । २ ।  
हननम् । हिंसनप्रयोगः ॥

२—पितरः । १ । २ । १ । पालकाः, उत्पादकाः । पुत्राः । १ । ११ । ५ ।  
आत्मजाः । स-चेतसः । समान + चित्तां ज्ञाने—असुन् । समानस्य छन्दसि० ।  
पा० ६ । ३ । ८४ । इति सभावः । समानचित्ताः, एकमनस्काः । शृणुत । श्रु

( शृणुत ) सुनो । ( सर्वेभ्यः वः ) तुम सब को मैं ( एतम् ) इसे [ अपने को ] ( परि ददामि ) सौंपता हूँ ( एनम् ) इस पुरुष के लिये [ मेरे लिये ] ( स्वस्ति ) कल्याण और मङ्गल ( जरसे ) स्तुति के अर्थ ( वहाथ ) तुम पहुँचाओ ॥ २ ॥

**भावार्थ—**जो बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रवित् विजयशील वृद्ध, युवा और ब्रह्मचारियों की सेवा में आत्म समर्पण करता है वह पुरुष उन महात्माओं के सत्संग, उपदेश और सत्कर्मों से लाभ उठाकर संसार में अपनी स्तुति फैलाता है ॥ २ ॥

**टिप्पणी—**( जरसे ) शब्द का अर्थ 'स्तुति के लिये' निघंटु ३ । १४ । निरु० १० । ८ । और सायणभाष्य ऋग्वेद १ । २ । २ । के प्रमाण से किया है । यहां पर सायणभाष्य में "जरायै, जराप्राप्तियर्यन्तम् । बुढ़ापे के लिये, बुढ़ापे के आने तक" जो अर्थ है वह असंगत है, वेद में जीवन को स्वस्थ और स्तुति-योग्य रखने का उपदेश है । देखो—अथर्ववेद, का० ६ सू० १२० म० ३ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्व १ः स्वीयाः ।  
अश्लोणा अङ्गै रहु ताः स्वर्गं तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥

जहां पर पुण्यात्मा मित्र अपने शरीर का रोग छोड़ कर आनन्द भोगते हैं ,

**अवरो—**लोट् । आकर्णयत् । इदम् । वक्ष्यमाणम् । उक्तम् । वच कथने—क्त । वचिस्वपियजादी० । पा० ६ । १ । १५ । इति संप्रसारणम् । वचनम् । वः । शुभभ्यम् । परिददामि । रक्षणार्थं दानं परिदानं समर्पणम् । रक्षितुं प्रयच्छामि, समर्पयामि । एतम् । आत्मानम् । स्वस्ति । सावसेः । उ० ४ । १८१ । सु + अस सत्तायां—ति । आशीर्वादम्, क्षेमम् । एनम् । माम् प्रति । जरसे । जरतेस्तौतीत्यर्चतिकर्माणौ— निघ० ३ । १४ । जरा स्तुतिर्जरते—स्तुतिकर्मणः । निरु० १० । ८ । यथा । वाच उक्थे भिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः । ऋ० १ । २ । २ । जरन्ते=स्तुवन्ति, जरितारः=स्तोतारः, इति सायणस्तद्भाष्ये । जृ स्तुतौ, नैरुक्तधातुः । यद्वा । गृ शब्दे=स्तुतौ असुन्, गकारस्य जकारः । स्तुत्यर्थम् । प्रशंसाप्राप्त्यर्थम् । वहाय । वह प्रापणे—लेट् । द्विकर्मकः । यूयं प्रापयत ॥

वहाँ पर स्वर्ग में बिना लंगड़े हुये और अंगों से बिना टेढ़े हुये हम माता पिता और पुत्रों को देखते रहें ।

और देखो यजुर्वेद २५ । २१ । तथा ऋग्वेद १ । ८६ । ८ ।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।  
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाग्धं संस्तुनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

हे विद्वान् जनो ! कानों से हम शुभ सुनते रहें, हे पूज्य महात्माओ ! आँखों से हम शुभ देखते रहें । दृढ़ अङ्गों और शरीरों से स्तुति करते हुये हम लोग वह जीवन पावें जो विद्वानों का हितकारक है ॥

ये देवा दिवि पृथिव्यां ये अन्तरिक्षे ओष-  
धीषु पशुप्स्वरन्तः । ते कृणुत जरसमायुरस्मै  
शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्यून् ॥ ३ ॥

ये । देवाः । दिवि । स्थ । ये । पृथिव्याम् । ये । अन्तरिक्षे ।  
ओषधीषु । पशुपु । अप्सु । अन्तः । ते । कृणुत । जरसम्  
आयुः । अस्मै । शतम् । अन्यान् । परि । वृणक्तु । मृत्यून् ॥३॥

भाषार्थ—( देवाः ) हे विद्वान् महात्माओ ! ( ये ) जो तुम ( दिवि ) सूर्य लोक में, ( ये ) जो ( पृथिव्याम् ) पृथिवी में, ( ये ) जो ( अन्तरिक्षे ) आकाश वा मध्यलोक में, ( ओषधीषु ) ओषधियों में, ( पशुपु ) सब जीवों में और ( अप्सु ) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं वा जल में ( अन्तः ) भीतर ( स्थ ) वर्तमान हो । ( ते ) वह तुम ( अस्मै ) इस पुरुष के लिये ( जरसम् ) कीर्तियुक्त

३—देवाः । हे दिव्यगुणाः । दिव्यगुणयुक्ता विद्वांसः । दिवि । दिव्य क्रीडा-  
विजिगीषाकान्तिगत्यादिषु-किप् । प्रकाशे सूर्यसमानलोके । स्थ । अस भुवि  
लट् । भवथ, वर्तन्ते । पृथिव्याम् । १ । २ । १ । विस्तृतायां प्रख्यातायां वा  
भूमौ । अन्तरिक्षे । अन्तः सूर्यपृथिव्योर्मध्ये ईक्ष्यते । अन्तर् + ईक्ष दर्शने-कर्मणि



( आयुः ) जीवन ( कृणुत ) करो, [ यह पुरुष ] ( अन्यान् ) दूसरे प्रकार के ( शतम् ) सौ ( मृत्यून ) मृत्युओं को ( परि वृणक्तु ) हटावे ॥

**भावार्थ**—जो विद्वान् सूर्य विद्या, भूमि विद्या, वायुविद्या, ओषधि अर्थात् अन्न, वृक्ष, जड़ी वूटी आदि की विद्या, पशु अर्थात् सब जीवों की पालन विद्या और जल विद्या वा सूक्ष्म तन्मात्राओं की विद्या में निपुण हैं उनके सत्संग और उनके कर्मों के विचार से शिक्षा ग्रहण करके और पदार्थों के गुण, उपकार और सेवन को यथार्थ समझ कर मनुष्य अपना सब जीवन शुभ कर्मों में व्यतीत करें, और दुराचरणों में अपने जन्म को न गमाकर सुफल करें ॥ ३ ॥

**टिप्पणी**—(पशु) शब्द जीववाची है, देखो अथर्व० २। ३४। १।

घञ् । यद्वा । अन्तर्मध्ये ऋक्षाणि नक्षत्राणि यस्य तत् अन्तरिक्षम् । पृषोदरादित्वात् ईकारस्य ह्रस्वः, ऋकारस्य इकारः । अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा—इति । भगवान् यास्कः, निरु० २। १०। सर्वम-  
ध्ये दृश्यमाने । आकाशे । ओषधीषु । १। २३। १ ओषधि-ङीप् ओषध्यः फल, पाकान्ता बहुषुष्पफलोपगाः । इति मनुः, १। ४६ ॥ इति कदलीव्रीहियवफल-  
धान्यादिषु । पशुषु । अर्जिर्दृशिकभ्यमिपसीति० । उ० १। २७। इति दृशिर्-  
प्रेक्षणे-कु, पश्यादेशः । पश्यन्ति दृश्यन्ते वा ते पशवः । प्रणिमात्रेषु, सर्वजीवेषु ।  
अप्सु । १। ४। ३ । आप्ल-क्विप् । व्यापिकासु सूक्ष्मतन्मात्रासु । यथा श्री-  
मद्भयानन्दभाष्ये यजुः । ३७। २५, २६ । जलेषु वा । अन्तः । मध्ये । ते ।  
सर्वे देवा यूयम् । कृणुत । कुरुत । जरस्म् । म० २। जरस् स्तुतिः । अर्श  
आदिभ्यो ऽच् । पा० ५। २। १२७ । इति मत्वर्थे अच् । स्तुतियुक्तम् । प्रशंस-  
नीयम् । आयुः । एतेर्णिञिच् । उ० २। ११८ । इति इण् गतौ-उसि । ईयते प्रा-  
प्यते यत्तद् आयुः । जीवनम्, जीवितकालः । अस्मै । आत्मने, मह्यम् । शतम् ।  
अपरिमितान् । अन्यान् । स्तुत्यजीवनाद् भिन्नान् मृत्यून परि+वृणक्तु ।  
वृजी वर्जने-लोट् । अयम् उपासकः परिवर्जयतु । मृत्यून् । भुजिमृडभ्यां  
युक्त्युक्तौ । उ० ३। २१ । इति मृड् प्राणत्यागे-त्युक् । प्राणवियोगान्, मरणानि ।  
अत्र पश्यत अ० २। २८। १ । तथा ८। २। २७ ॥

य ईशं पशुपतिः पशुनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।

जो पशुपति चौपाये और दोपाये पशुओं [अर्थात् जीवों] का राजा है ।

( अण्डु ) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं में । देखो श्रीमद्भुवनेश्वर भाष्य, यजुर्वेद ३७ । २५ और २६ ॥

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च  
देवाः । येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वे  
अस्मै सन्नसदः कृणोमि ॥ ४ ॥

येषाम् । प्र-याजाः । उत । वा । अनु-याजाः । हुत-भागाः ।  
अहुत-अदः । च । देवाः । येषाम् । वः । पञ्च । प्र-दिशः । वि-  
भक्ताः । तान् । वः । अस्मै । सन्न-सदः । कृणोमि ॥ ४ ॥

भाष्यार्थ—( येषाम् ) जिन [तुम्हारे] ( प्रयाजाः ) उत्तम पूजनीय कर्म  
( उत वा ) और ( अनुयाजाः ) अनुकूल पूजनीय कर्म, और ( हुतभागाः ) देने  
लेने के विभाग ( च ) और ( अहुतादः ) यज्ञ वा दान से बचे पदार्थों के आहार  
( देवाः ) विजय करने हारे [वा प्रकाश चाले] हैं । और ( येषाम् वः ) जिन तुम्हारे  
( पञ्च ) विस्तीर्ण [वा पांच] ( प्रदिशः ) उत्तम दान क्रियायें [वा प्रधान दिशाएँ]  
( विभक्ताः ) अनेक प्रकार बटी हुयी हैं ( तान् वः ) उन तुम को ( अस्मै ) इस  
[ पुरुष ] के दित के लिये [ अपने लिये ] ( सन्नसदः ) सभासद् ( कृणोमि )  
यनाता हूँ ॥ ४ ॥

४—प्र-याजाः । अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा० ३।३।१६ । इति प्र +  
यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु - घञ् । प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे । पा० ७।३ । ६२ ।  
इति कुत्वप्रतिषेधो निपात्यते । प्रकृष्टपूजनीयकर्माणि । वा । समुच्चये, पाद-  
पूरणे वा । अनु-याजाः । अनु + यज-घञ् पूर्ववत्-अनुकूलानि पूजनीयकर्माणि ।  
हुतभागाः । हुदानादा नदनेषु-क्ता भज भागसेवयौः-भावे घञ् । हुतस्य, दत्तस्य,  
दानस्य गृहीतस्य वा विभागाः । अहुत-अदः । संपदादिभ्यः क्विप् वाति-  
कम्, पा० ३ । ३ । ६४ । अहुत + अद भक्षणे-भावे क्विप् । अदानस्य दानशेषस्य

भावार्थ—जो धर्मात्मा विद्वान् पुरुष स्वार्थ छोड़ कर दान करते हैं और सब संसार के हित में दत्तचित्त हों, राजा उन महात्माओं को चुन कर अपनी राजसभा का सभासद् बनावे ॥ ४ ॥

यज्ञशेष के भोजन के विषय में भगवान् श्री कृष्ण महाराज ने कहा है ।  
भगवद्गीता अ० ४ श्लोक ३१ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् । नायं  
लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ १ ॥

यज्ञ [दान वा देवपूजा] से बचे अमृत का भोजन करने वाले पुरुष सनातन ब्रह्म को पाते हैं । यज्ञ न करने वाले का यह लोक नहीं है, हे कौरवों में श्रेष्ठ ! फिर उसका परलोक कहां से हो ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—४ ॥ प्रजापतिर्देवता । १, २ अनुष्टुप् ३, ४ त्रिष्टुप् उप-  
रिष्ठाज ज्योतिः,  $११ \times ३ + ८ = ४१$  ॥

पुरुषार्थानन्दोपदेशः—पुरुषार्थ और आनन्द के लिये उपदेश ॥

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतैभ्यः ।

इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा व्रयम् ॥ १ ॥

भोजनानि । धान्यधनादीनि । देवाः । १ । ७ । १ विजयिनः । प्रकाशमयाः ।  
पञ्च । सप्यश्रभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति पचि व्यक्तिकारे विस्तारे च  
कनिन् । विस्तीर्णाः, व्यक्ताः प्रसिद्धाः । संख्यावाची वा । प्र-दिशः । प्र + दिश  
दाने आश्नापने च-किप् । प्रकृष्टा दानक्रियाः । प्राच्याद्याः सर्वा दिशाः वि-भक्ताः ।  
वि + भज-क्त । प्राप्तविभागाः । अस्मै । आत्मने, मदर्थम् । सत्र-सदः । गुधूवी-  
पचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्तः । उ० ४ । १६७ । इति षट् लृट् विशरणगत्यवसाद-  
नेषु ऋप्रत्ययः । सीदन्ति यत्रेति सत्रं सदनं यज्ञः । सभास्थानम् । पुनः । सत्सूद्विष  
हुह० । पा० ३ । २ । ६१ । इति सत्रोपपदे तस्मादेव धातोः-कर्तरि विवप् । सभा-  
सदः, सभ्यान् । कृणोमि । कृवि हिंसाकरणयोः-लट् । करोमि ॥

आशानाम् । आशा-पालेभ्यः । चतुः-भ्यः । अमृतेभ्यः ।  
इदम् । भूतस्य । अधि-अक्षेभ्यः । विधेम । हविषा । वयम् ॥१॥

भाषार्थ—( इदम् ) इस समय ( वयम् ) हम ( आशानाम् ) सब दिशा-  
ओं के मध्य ( आशापालेभ्यः ) आशाओं के पालने वाले, ( चतुर्भ्यः ) प्रार्थना के  
योग्य [अथवा, चार भर्म अर्थ काम और मोक्ष] ( अमृतेभ्यः ) अमर रूप वाले,  
( भूतस्य ) संसार के ( अध्यक्षेभ्यः ) प्रधानों की ( हविषा ) भक्ति से (विधेम)  
सेवा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को उत्तम गुण वाले पुरुषों अथवा चतुर्वर्ग, धर्म,  
अर्थ, काम [ईश्वर में प्रेम] और मोक्ष की प्राप्ति के लिये सदा पूर्ण पुरुषार्थ करना  
चाहिये । इन के ही पाने से मनुष्य की सब आशाएँ वा कामनाएँ पूर्ण  
होनी हैं ॥ १ ॥

य आशानामाशापालाश्चत्वारः स्थनं देवाः ।

ते तु निष्कृत्याः पार्श्वेभ्यो मुञ्चतां हसोऽग्रहसः ॥ २ ॥

१—आशानाम् । आश् + अश् व्याप्तौ-पचाद्यच्, टाप् । दिशानां मध्ये ।  
आशा-पालेभ्यः । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति आशा + पाल वा पाल,  
रक्षणे-यण् । दिशानाम् आकांक्षानां वा पालकेभ्यः । लोकपालेभ्यः । चतुः-  
भ्यः । चनेरन् । उ० ५ । ५८ । इति चत याचने-उरन् । याचनीयेभ्यः, कमनी-  
येभ्यः । अथवा चतुःसंख्याकेभ्यः, धर्मार्थकाममोक्षेभ्यः । अमृतेभ्यः । मृतं  
मरणम् । मरणरहितेभ्यः, अमरेभ्यः, महायशस्विभ्यः । इदम् । इदानीम् ।  
भूतस्य । लोकस्य । अधि-अक्षेभ्यः । अध्यक्षांति समन्ताद् व्य मोति ।  
अधि + अक्ष व्याप्तौ मंहती-अच् । व्यापकेभ्यः । अधिपतिभ्यः । विधेम । ॥१॥  
१२ । २ । परिचरेम (विधेम) इत्यस्य प्रयोगे बहुधा कर्मणि चतुर्थी दृश्यते, यथा  
कस्मै देवाय हविषा विधेम । य० १३ । ४ । हविषा । १ । १२ । २ ।  
आत्मदानेन, भक्त्या ॥

ये । आशानाम् । आशा-पालाः । चत्वारः । स्थन । देवाः ।  
ते । नः । निः-ऋत्याः । पाशेभ्यः । मुञ्चत । अंहसः—अंहसः ॥२॥

भाष्यार्थ—( देवाः ) हे प्रकाशमय देवताओ ! ( ये ) जो तुम ( आशा-  
नाम् ) सब दिशाओं के मध्य ( चत्वारः ) प्रार्थना के योग्य [ अथवा चार ]  
( आशापालाः ) आशाओं के रक्षक ( स्थन ) वर्तमान हो , ( ते ) वे तुम ( नः )  
हमें ( निऋत्याः ) अलक्ष्मी वा महामारी के ( पाशेभ्यः ) फंदों से और (अंहसो-  
अंहसः ) प्रत्येक पाप से ( मुञ्चत ) छड़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को प्रयत्न पूर्वक सब उत्तम पदार्थों [ अथवा चारों  
पदार्थ , धर्म , अर्थ , काम और मोक्ष ] को प्राप्त कर के सब क्लेशों का नाश  
करना चाहिये ॥ २ ॥

अस्त्रामस्त्वा हुविषा यजाम्यश्लेणस्त्वा घृतेन  
जुहोमि । य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स  
नः सुभुतमेह वक्षत् ॥ ३ ॥

२—आशानाम् । म० १ । दिशानां मध्ये । आशा-पालाः । म० १ ।  
आकांक्षानाम् पालकाः , लोकपालाः । चत्वारः । म० १ । याचनीयाः प्रार्थ-  
नीयाः । चतुःसंख्यका धर्मार्थकाममोक्षा वा । स्थन । तप्तनपनयनाश्च ।  
पा० ७ । १ । ४५ । इति अस भुवि लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने थनादेशः । यूनं  
स्त भवत । देवाः । हे दिव्यगुणाः पुरुषाः । निःऋत्याः । निः + ऋ हिंसने  
क्तिन् । नितराम् अतिघृणा अशुभं वा यस्याः सा निऋतिः, तस्याः । अलक्ष्म्याः ।  
उपद्रवस्य । पाशेभ्यः । पश बाधे, ग्रन्थे-घञ् । बन्धनेभ्यः । मुञ्चत । मुञ्च  
मोक्षे । मोचयत । अंहसः—अंहसः । अमेहुक् च । उ० ४ । २१३ । इति अम  
रोगे, पीड़ने- असुन् , हुक् आगमः । नित्यवीप्सयोः, पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्व-  
चनम् । सर्वस्माद् दुःखात् , पापात् ॥

अस्मिन् । त्वा । हविषा । यजामि । अश्लोणः । त्वा । घृतेन  
जुहोमि । यः । आशानाम् । आशा-पालः । तुरीयः । देवः ।  
सः । नः । सु-भूतम् । आ । इह । वृक्षत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] ( अस्मिन् ) अम रहित मैं ( त्वा ) तुझ को (हविषा) भक्ति से (यजामि) पूजता हूँ, ( अश्लोणः ) लंगड़ा न होता हुआ मैं ( त्वा ) तुझ को ( घृतेन ) [ ज्ञान के ] प्रकाश से [ अथवा घृत से ] (जुहोमि) स्वीकार करता हूँ । ( यः ) जो (आशानाम्) सब दिशाओं में ( आशापालः ) आशाओं को पालन करने वाला, ( तुरीयः ) बड़ा वेगवान् परमेश्वर [अथवा, चौथा मोक्ष] ( देवः ) प्रकाशमय है, ( सः ) वह ( नः ) हमारे लिये ( इह ) यहाँ पर ( सुभूतम् ) उत्तम ऐश्वर्य ( आ + वृक्षत् ) पहुँचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निरालस्य होकर परमेश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं अथवा जो घृत से अग्नि के समान प्रतापी होते हैं वे शीघ्र ही जगदीश्वर का दर्शन करके [ अथवा धर्म, अर्थ, और काम की सिद्धि से पाये हुये चौथे मोक्ष के लाभ से ] महासमर्थ होजाते हैं ॥ ३ ॥

३—अस्मिन् । अमु तपःखेदयोः-घञ् । शस्य सकारः । अमरहितः, खेदरहितः । त्वा । त्वाम्, परमेश्वरम् । हविषा । म० १ । भक्त्या । यजामि । पूजयामि । अश्लोण । श्लोण संघाते=राशीकरणे--अच् । रस्य लः । अश्लोणः, अपङ्गः । घृतेन । अञ्चिघृतसिभ्यः कः । उ० ३ । ८६ । इति घृ भासे—भावे क । दीप्तया, स्वज्ञानप्रकाशेन । आज्येन । जुहोमि । १ । १५ । १ । अहम् आददे, स्वीकरोमि । यः । आशापालः । आशानाम् । म० १ । दिशानाम् । आशा-पालः । म० १ । इच्छापालकः । तुरीयः । तुरो वेगः, अस्त्यर्थे छ प्रत्ययः । तुरवान्, वेगवान् परमेश्वरः [अथवा । चतुरश्र-यतावायुक्षरलोपश्च । वार्तिकम् । पा० ५ । २ । ५१ । इति चतुर—छ, चकार-लोपश्चः । चतुर्थः । चतुर्णां पूरको । मोक्षः-इति ] सु-भूतम् । सु + भू सत्तायां भावे क । सुभूतिम् । सु सुष्ठु प्रभूतं धनम्, आ—समन्तात् । इह । अत्र ।

सायणभाष्य में ( अश्रामः ) के स्थान में [ अश्रामः ] और ( अश्लोणः ) के स्थान में [ अश्रोणः ] हैं वे अधिक शुद्ध जान पड़ते हैं ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो  
जगते पुरुषेभ्यः । विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो  
अस्तु ज्योतेऽव दृशेम सूर्यम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति । मात्रे । उत । पित्रे । नः । अस्तु । स्वस्ति । गोभ्यः ।  
जगते । पुरुषेभ्यः । विश्वम् । सु-भूतम् । सु-विदत्रम् । नः ।  
अस्तु । ज्योक् । एव । दृशे-म । सूर्यम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( नः ) हमारी ( मात्रे ) माता के लिये ( उत ) और ( पित्रे ) पिता के लिये ( स्वस्ति ) आनन्द ( अस्तु ) होवे, और ( गोभ्यः ) गौओं के लिये ( पुरुषेभ्यः ) पुरुषों के लिये और ( जगते ) जगत् के लिये ( स्वस्ति ) आनन्द होवे । ( विश्वम् ) संपूर्ण ( सुभूतम् ) उत्तम ऐश्वर्य और ( सुविदत्रम् )

वस्तु । वह प्रापणे-लेटि अडागमः, द्विकर्मकः । आवहेत्, प्रापयेत्, आहृत्य दद्यात् ।

४—स्वस्ति । १ । ३० । २ । ज्योमम्, मङ्गलम् । मात्रे । १ । २ । १ मान-  
नीयायै जनन्यै । पित्रे । १ । २ । १ । पालकाय, जनकाय । गोभ्यः । १ । २ ।  
३ । गन्तव्याभ्यः प्रापणीयाभ्यः धेनुभ्यः, गवादिपशुभ्यः । जगते । वर्तमाने पृषद्-  
बृहन्महज् जगन् छतृषञ्च । उ० २ । ८४ । इति गभस्तु-अति । निपातितश्च ।  
गतिशीलाय ससाराय । पुरुषेभ्यः । पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्न-  
गत्याम्-कुषन् । पुरति अग्रे गच्छतीति । पुत्रभृत्यादिमनुष्येभ्यः । विश्वम् ।  
सर्वम् । सु-भूतम् । म० ३ । प्रभूतमैश्वर्यम् । सुविदत्रम् । सुविदेः कत्रन् ।  
उ० ३ । १०८ । इति सु+विद ज्ञाने, विद्वत् लाभे वा-कत्रन् । यास्कस्तु द्वेधा  
युत्पादयामास । सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वैकोपसर्वाद् ददातेर्वारियाद्

उत्तम ज्ञान वा कुल (नः) हमारे लिये ( अरतु ) हो, ( ज्योक् ) बहुत कालतक ( सूर्यम् ) सूर्य को ( एव ) ही ( दृशेम ) हम देखते रहें ॥ ४ ॥

**भावार्थ—**जो मनुष्य माता पिता आदि अपने कुटुम्बियों और अन्य माननीय पुरुषों और गौ आदि पशुओं से लेकर सब जीवों और संसार के साथ उपकार करते हैं, वे पुरुषार्थी सब प्रकार का उत्तम धन, उत्तम ज्ञान और उत्तम कुल पाते और वही सूर्य जैसे प्रकाश मान होकर दीर्घ आयु अर्थात् बड़े नाम को भोगते हैं ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१—४ ॥ ब्रह्म देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविचारोपदेशः—ब्रह्म विचार का उपदेश ॥

इदं जनासो विदथ्यं महद् ब्रह्म वदिष्यति ।

न तत् पृथिव्यां नो द्विवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥१॥

इदम् । जनासः । विदथ्यं । महत् । ब्रह्म । वदिष्यति । न ।

तत् । पृथिव्याम् । नो इति । द्विवि । येन । प्राणन्ति । वीरुधः ॥१॥

**भाषार्थ—**(जनासः) हे मनुष्यो ! (इदम्) इस बात को (विदथ्य) तुम जानते हो, वह [ब्रह्मज्ञानी] (महत्) पूजनीय (ब्रह्म) परम ब्रह्म का (वदिष्यति) कथन करेगा । (तत्) वह ब्रह्म (न) न तो (पृथिव्याम्) पृथिवी में (नो) और न

ह्युपसर्गात्-निरु० ६।७। तथा । सुविदत्रः कल्याणविद्यः-निरु० ६ । १४ । शोभनं ज्ञानं कुटुम्बं वा । ज्योक् । १। ६। ३। चिरकालम् । दृशेम । दृशिर प्रेक्षणे-आशीर्लिङ् । वयं पश्येम । सूर्यम् । १। ३। ५। आदित्यम् । भानुप्रकाशम् ॥

१—इदम् । वक्ष्यमाणम् । जनासः । १। ८। १। आज्ञासेरसुक् । पा० ७। १। ५० । इति जसि असुक् । हे जनाः, विद्वांसः । विदथ्य । विद ज्ञाने अदादिः-लट् मध्यमवहुवचनं छन्दसि शः । यूयं विदथ्य, जानीथ । महत् ।



(दिवि) सूर्य लोक में है (येन) जिस के सहारे से (वीरुधः) यह उगती हुयीं जड़ी बूटी [लता रूप सृष्टि के पदार्थ] (प्राणन्ति) श्वास लेती हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—यद्यपि वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म भूमि वा 'सूर्य' आदि किसी विशेष स्थान में वर्तमान नहीं है तो भी वह अपनी सत्ता मात्र से ओषधि अन्न आदि सब सृष्टि का नियम पूर्वक प्राणदाता है । ब्रह्मज्ञानी लोग उस ब्रह्म का उपदेश करते हैं ॥ १ ॥

केनोपनिषत् में वर्णन है, खंड १ मन्त्र ३ ।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विदुमो न विजानीमो यथैतदनु शिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचक्षिरे ॥ १ ॥

न वहां आंख जाती है, न घाणी जाती है, न मन, हम न जानते हैं न पहिचानते हैं कैसे वह इस जगत का अनुशासन करता है । वह जाने हुये से भिन्न है और न जाने हुये से ऊपर है । ऐसा हमने पूर्वजों से सुना है, जिन्होंने हमें उसकी शिक्षा दी थी ॥

१ । १० । ४ । पूजनीयम् ब्रह्म । १ । ४ । ४ । परब्रह्म, परमात्मानम्, परमकारणम्, वदिष्यति । वद वाक्ये—लृट् । कथयिष्यति । न । निषेधे । तत् । ब्रह्म । पृथिव्याम् । १ । २ । १ । प्रख्यातायां भूमौ । नो इति । न- उ । नैष । दिवि । १ । ३० । ३ । द्युलोके, सूर्यमण्डले । येन । ब्रह्मणा । प्राणन्ति । प्र+अन जीवने, अदादिः । जीवन्ति, श्वसन्ति । वीरुधः । विशेषेण रुणद्धि वृक्षानन्यान् सा वीरुत् । वि+रुध आवारणे-क्विप्, दीर्घश्च । अथवा । वि+रुह प्रादुर्भावे-क्विप् । न्यङ्कादीनां च पा० ७ । ३ । ३५ । इति हस्य धः । विरोहण-शीलाः । विस्तृता लतादयः । लतादिवद् विरोहिताः सृष्टिपदार्थाः ॥

और भी केनोपनिषत् का वचन है, स० १ म० ८ ॥

यत् प्राणे न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ २ ॥

जो प्राण द्वारा नहीं श्वास लेता है । जिस करके प्राण चलाया जाता है ।  
उस को ही तू ब्रह्म जान, यह वह नहीं है जिसके पास वे बैठते हैं ॥

अन्तरिक्ष आसाम् स्थाम् आन्तसदामिव ।

आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा ॥२॥

अन्तरिक्षे । आसाम् । स्थाम् । आन्तसदाम्-इव ।

आ-स्थानम् । अस्य । भूतस्य । विदुः । तत् । वेधसः । न । वा ॥ २ ॥

भावार्थ—(अन्तरिक्षे) सब के भीतर दिखाई देने वाले आकाश रूप परमेश्वर में (आसाम्) इनका [ लतारूप सृष्टियों का ] (स्थाम्) ठहराव है (आन्तसदाम् इव) जैसे थक कर बैठे हुये यात्रियों का पड़ाव । (वेधसः) बुद्धिमान लोग (तत्) उस ब्रह्म को (अस्य भूतस्य) इस संसार का (आस्थानम्) आश्रय (विदुः) जानते हैं, (वा) अथवा (न) नहीं [ जानते हैं ] ॥२॥

भावार्थ—सूर्य आदि असंख्य लोक उसी परमब्रह्म में ठहरे हैं, वही समस्त जगत् का केन्द्र है । इस बात को विद्वान् लोग बिधि और निषेध रूप

२—अन्तरिक्षे । १।३०।३। सर्वमप्ये दृश्यमाने परमेश्वरे । आसाम् । वीरधाम् । म० १ । विरोहणाशीलानां पदार्थानाम् । स्थाम् । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४४ । ण्ठा गतिनिवृत्तौ—मनिन् । स्थानं । स्थितिः । आन्त-सदाम् । अमु तपःखेदयोः—भावे क + पठ् ल विशरणगत्यवसादनेषु-क्विप् । अमेण मार्गखेदेन स्थितानाम् । आ-स्थानम् । आ + ण्ठा—लुङ् । स्थानम् । आश्रयम् । अस्य । परिदृश्यमानस्य । भूतस्य । लोकस्य ; जगतः । विदुः । विदुः ज्ञाने—लट् । विदन्ति जानन्ति । तत् । कारणभूतं ब्रह्म । वेधसः । १ । ११ । १ । मेधाविनः, विद्वांसः । न । निषेधे । वा । अथवा ॥

विचार से निश्चिन्न करते हैं. जैसे ब्रह्म जड़ नहीं है किन्तु चैतन्य है, इत्यादि, अथवा जितना अधिक ब्रह्मज्ञान होता जाता है उतना ही वह अनन्त, ब्रह्म अगम्य और अति अधिक जान पड़ता है इससे वह ब्रह्मज्ञानी अपने को अज्ञानी समझते हैं ॥ २ ॥

यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।

आर्द्रं तद्वद्य सर्वदा समुद्रस्यैव स्रोत्याः ॥ ३ ॥

यत् । रोदसी (इति) । रेजमाने इति । भूमिः । च । निः-अतक्षतम् ।  
आर्द्रम् । तत् । अद्य । सर्वदा । समुद्रस्य-इव । स्रोत्याः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( रोदसी = सि ) हे सूर्य ( च ) और ( भूमिः ) भूमि । ( रेजमाने ) कांपते हुये तुम दोनों मे ( यत् ) जिस [ रस ] को ( निरतक्षतम् ) उत्पन्न किया है, ( तत् ) वह ( आर्द्रम् ) रस ( अद्य ) आज ( सर्वदा ) सदा से ( समुद्रस्य ) सींचनेवाले समुद्र के ( स्रोत्याः ) प्रवाहों के ( इव ) समान वर्तमान है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस रस वा उत्पादन शक्ति को, परमेश्वर ने सूर्य और भूमि को ( कंपमान ) वश में रख के, सृष्टि के आदि में उत्पन्न किया था वह शक्ति

३—यत् । आर्द्रम् । रोदसी । एकवचनं स्त्री । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति रुध आवरणे—असुन् । पिद् गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४२ । इति ङीप् । ध्रुलोको भूमिर्वा । सम्बोधने दीर्घश्छान्दसः । हे रोदसि । सूर्यलोक । रेजमाने । रेजु कम्पने-शानच् । भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः—निरु० ३ । २१ । उभे कम्पमाने । भूमिः । १ । ११ । २ । भवन्ति पदार्था अस्यामिति । पृथिवी । निः-अतक्षतम् । तद्धू तनूकरणे-लङ् । युवामुदपादयतम् । आर्द्रम् । अर्देर्दीघश्च । उ० २ । १८ । इति अर्द यथे, गतौ-रक्, दीर्घश्च । क्लेदनं रसत्वम् उत्पादनसामर्थ्यम् । तत् । प्रसिद्धम् । अद्य । १ । १ । १ । वर्तमाने दिने । समुद्रस्य । १ । ३ । ८ । समुन्दनशीलस्य सागरस्य, अर्णवस्य । स्रोत्याः । पुंलि० । स्रोतसो विभाषा ड्यङ्यौ । पा० ४ । ४ । ११३ । इति स्रोतस्-ड्याङिस्त्वात् टि लोपः । स्रोतसि भवाः, जलप्रवाहाः ॥

मेघ आदि रस रूप से सदा संसार में सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति का कारण है ॥ ३ ॥

**टिप्पणी—**सायणभाष्य में ( रोदसी इति ) यह पद पाठ और उसका अर्थ [ हे धावापृथिव्यौ ] हे सूर्य और भूमि अशुद्ध है । यहां ( रोदसी ) एक पञ्चन और केवल सूर्य वाची है क्योंकि ( भूमिः च ) [ और भूमि ] यह पद मन्त्र में वर्तमान है । फिर ( भूमिः च ) का भी अर्थ [ भूमि और धुलोक ] उक्त भाष्य में है ॥

विश्वमन्यामभिवारं तदन्यस्यामधि श्रितम् ।

दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

विश्वम् । अन्याम् । अभि-वारं । तत् । अन्यस्याम् । अधि । श्रितम् । दिवे । च । विश्व-वेदसे । पृथिव्यै । च । अकरम् । नमः ॥ ४ ॥

**भाष्यार्थ—**(विश्वम्) उस सर्व व्यापक [रस]ने (अन्याम्) एक [सूर्य वा भूमि] का (अभि) चारों ओर से (वार=ववार) घेर लिया, (तत्) वही [रस] (अन्यस्याम्) दूसरी में (अधिश्रितम्) आश्रित हुआ । (च) और (दिवे) सूर्य रूप वा आकाश रूप (च) और (पृथिव्यै) पृथिवी रूप (विश्ववेदसे) सब के जानने वाले [या सब धनों के रखने वाले, या सब में विद्यमान ब्रह्म]को (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैंने किया है ॥ ४ ॥

**भावार्थ—**सृष्टि का कारण रस अर्थात् जल, सूर्य की किरणों से आकाश

४—विश्वम् । १।१०।२। सर्वं व्याप्तं आद्रम् । म० ३। अन्याम् । एकाम्नां भूमिं वा । अभि वार । वृज्वरणे-लिट् । वकार लोपश्छान्दसः । सर्वतो ववार, आच्छादितं चकार । तत् । आद्रम् । अन्यस्याम् । अपरस्याम् । अधि+श्रितम् । आश्रितम् । दिवे । १।३०।३। आकाशाय । तद्रूपाय । विश्व-वेदसे । विद्म लामे, वा विद्म ज्ञाने सत्तायां च-अस्तुन् ॥ सर्वधन-युक्तायै, सर्वाधारभूतायै । पृथिव्यै । १।२।१। विस्तीर्णायै भूम्यै, तद्रूपाय परमेश्वराय । अकरम् । डुकृञ् करणे-लुङ् । अहं कृतवानस्मि ॥

में जाकर फिर पृथिवी में प्रविष्ट होता, वही फिर पृथिवी से आकाश में जाता और पृथिवी पर आता है । इस प्रकार उन दोनों का परस्पर आकर्षण , जगत् को उपकारी होता है । विद्वान् लोग इसी प्रकार जगदीश्वर की अनन्त शक्तियों को विचार कर सत्कार पूर्वक उपकार लेकर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

यजुर्वेद म० ३ । अ० ५ । में इस प्रकार वर्णन है—

**भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भुम्ना पृथिवीव वरिम्णा ॥**

सब का आधार , सब में व्यापक , सुखस्वरूप परमेश्वर बहुत्व के कारण [ सब लोकों के धारण करने से ] आकाश के समान और अपने फैलाव से पृथिवी के समान है ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१—४ ॥ आपो देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सूक्ष्मतन्मात्राविचारः—सूक्ष्म तन्मात्राओं का विचार ॥

**हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु' जातः सविता  
यास्वग्निः । या अग्निं गर्भं' दधिरे सुवर्णास्ता  
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥**

हिरण्य-वर्णाः । शुचयः । पावकाः । यासु' । जातः । सविता ।  
यासु' । अग्निः । याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे । सु-वर्णाः ।  
ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—[जो] ( हिरण्यवर्णाः ) [व्यापनशील वा कमनीय रूप वाली  
( शुचयः ) निर्मल स्वभाव वाली और ( पावकाः ) शुद्धि की जताने वाली

१—हिरण्य-वर्णाः । हर्यतेः कन्यन् हिर च । उ० ४ । ४४ । इति हर्य गति-  
कान्त्योः—कन्यन्, हिर आदेशश्च, नित्वाद् आद्युदात्तः । कृवृजृसिद्गुपन्यनिस्वपि-  
भ्यो नित् । उ० ३ । १० । इति वृज् वरणे-न, स च नित् । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्ध-

हैं, ( यासु ) जिनमें ( सविता ) चलाने वा उत्पन्न करने हारा सूर्य और ( यासु ) जिनमें ( अग्निः ) [ पार्थिव ] अग्नि ( जातः ) उत्पन्न हुई । ( याः ) जिन ( सुवर्णाः ) सुन्दर रूप वाली ( आपः ) तन्मात्राओं ने ( अग्निम् ) [ विजुली रूप ] अग्नि को ( गर्भम् ) गर्भ के समान ( दधिरे ) धारण किया था, ( ताः ) वे [ तन्मात्राये ] ( नः ) हमारे लिये ( शम् ) शुभ करने हारी और ( स्योनाः ) सुख देने वाली ( भवन्तु ) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा ने कामना के और खोजने के योग्य तन्मात्राओं के संयोग वियोग से अग्नि, सूर्य, और विजुली, इन तीन तेजधारी पदार्थ आदि सब संसार को उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मनुष्यों को शुभ गुणों के ग्रहण और दुर्गुणों के त्याग से आपस में उपकारी होना चाहिये ॥ १ ॥

१-(आपः)=व्यापक तन्मात्राये-श्रीमद् दयानन्द भाष्य, यजुर्वेद २७ । २५ ॥

२-( आपः ) के विषय में सूक्त ४, ५ और ६ और सूक्त ४ में मनु महाराज का श्लोक भी देखें ॥

पदम् । पा० ६ । २ । १ । इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन आद्युदात्तः । कमनीयरूप-युक्ताः, गतिशीलरूपयुक्ताः । प्रकाशस्वरूपाः । शुचयः । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति शुचिर् शौचे=शुद्धौ-इन्, स च कित् । शुद्धस्वभावाः । पावकाः । पूञ् शोधे-घञ् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति कै शब्दे-कः । उपपदमतिङ् । पा० २ । २ । १६ । इति समासः । टाप् । यद्वा । पूञ् एवञ् । टाप् । पावकादीनां छन्दसीति । वा० पा० ७ । ३ । ४५ । इत्वं निषिद्धम् । पावस्य शुद्धव्यवहारस्य शब्दयिज्यः, आपयिज्यः । पावयिज्यः, शोधयिज्यः । यासु । अप्तु । जातः । जनी प्रादुर्भावे-क । प्रादुर्भूतः, उत्पन्नः । सविता । १ । १८ । २ । सूर्यः । अग्निः । १ । ६ । २ । पार्थिवाग्निः । अग्निम् । वैद्युताग्निम् । गर्भम् । १ । ११ । २ । पदार्थेषु गर्भवत् स्थितम् । दधिरे । दुध्राञ् धारण-पोषणयोः-लिट् । दधुः, स्थायामासुः । सु-वर्णाः । वृज्-न । शोभनरूपाः । नः । अस्मभ्यम् । आपः । १ । ५ । १ । व्यापिकास्तन्मात्राः-इति श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २५ ॥ शम् । १ । ३ । १ । शुभकारिण्यः । स्योनाः । सिंवेष्टेयूँ च । उ० ३ । ६ । इति षिवु तन्तुसन्ताने-न प्रत्ययः । टिभागस्य यू इत्यादेशः । स्योनं सुखनाम, निघ० । ३ । ६ । अर्शआदिभ्योऽच् पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वथे अच् । सुखवत्यः ॥

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अव-  
पश्यन् जनानाम् । या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता  
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥

यासाम् । राजा । वरुणः । याति । मध्ये । सत्यानृते इति सत्य-  
अनृते । अव-पश्यन् । जनानाम् । याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे ।  
सु-वर्णाः । ताः । नुः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—( यासाम् ) जिन तन्मात्राओं के ( मध्ये ) बीच में ( वरुणः )  
सर्वश्रेष्ठ ( राजा ) राजा परमेश्वर ( जनानाम् ) सब जन्मवाले जीवों के  
( सत्यानृते ) सत्य और असत्य को ( अवपश्यन् ) देखता हुआ ( याति )  
चलता है । ( याः ) जिन ( सुवर्णाः ) सुन्दर रूप वाली ( आपः ) तन्मात्राओं ने  
( अग्निम् ) विजुली रूप अग्नि को ( गर्भम् ) गर्भ के समान ( दधिरे ) धारण  
किया था, ( ताः ) वे [ तन्मात्राएँ ] ( नः ) हमारे लिये ( शम् ) शुभ करनेवाली  
और ( स्योनाः ) सुख देने वाली ( भवन्तु ) हों ॥ २ ॥

भावार्थ—इन तन्मात्राओं का नियन्ता अर्थात् संयोजक और वियोजक  
( वरुण राजा ) परमेश्वर है, वही सब जीवों के पुण्य पाप को देखकर यथावत् फल  
देता है । इनके गुणों से उपकार ले कर मनुष्यों को सुख भोगना चाहिये ॥ २ ॥

२—यासाम् । अपाम् तन्मात्राणाम् । राजा । १ । १० । ६ । ईश्वरः ।  
नियन्ता । वरुणः । १ । ३ । ३ । वृणोति सर्वं, वियते अन्यैरिति वरुणः । सर्व-  
वरणीयः परमेश्वरः । याति । गच्छति । व्याप्नोति । मध्ये । अघ्न्यादयश्च ।  
उ०४ । ११२ । इति मन ज्ञाने-यक्, नस्य धः । अन्तर्वर्त्तिनि भागे । सत्य-अनृते ।  
सद्भ्यो हितम् । सत्-यत् । सत्यं, यथार्थं, तथ्यम् । न अतृतम् । अनृतम् असत्यम्,  
मिथ्याकरणम् । सत्यं च असत्यं च उभे कर्मणी । अव-पश्यन् । दृशिर-शत्रु ।  
अवलोकयन् विजानन् । जनानाम् । १ । ८ । १ । जन्मवतां लोकानाम् । अन्यद्  
गतम् म० १ ॥

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भुक्षं या अन्तरिक्षे  
बहुधा भवन्ति । या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता  
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ३ ॥

यासाम् । देवाः । दिवि । कृण्वन्ति । भुक्षम् । याः । अन्तरिक्षे ।  
बहु-धा । भवन्ति । याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे । सु वर्णाः ।  
ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( देवाः ) सब प्रकाशमय पदार्थ ( दिवि ) व्यवहार के योग्य  
आकाश में ( यासाम् ) जिनका ( भक्षम् ) भोजन ( कृण्वन्ति ) करते हैं और  
( याः ) जो [ तन्मात्रायै ] ( अन्तरिक्षे ) सब के मध्यवर्ती आकर्षण में ( बहुधा )  
अनेक रूपों से ( भवन्ति ) वर्तमान हैं । और ( याः ) जिन ( सुवर्णाः ) सुन्दर  
रूप वाली ( आपः ) तन्मात्राओं ने ( अग्निम् ) [ बिजुली ] रूप अग्नि को ( गर्भम् )  
गर्भ के समान ( दधिरे ) धारण किया था, ( ताः ) वो [ तन्मात्रायै ] ( नः )  
हमारे लिये ( शम् ) शुभ करने वाली और ( स्योनाः ) सुख देने वाली ( भवन्तु )  
हों ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपरिमित तन्मात्रायै ईश्वर कृत परस्पर आकर्षण से संसार  
के ( देवाः ) सूर्य, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थों के धारण और पोषण का  
कारण हैं । ( देवाः ) विद्वान् लोग इन के सूक्ष्म विचार से संसार में अनेक  
उपकार करके सुख पाते हैं ॥ ३ ॥

३—यासाम् । अपाम् । देवाः । १।७।१ । व्यावहारिकपदार्थाः ।  
प्रकाशमयाः किरणाः । दिवि । १।३०।३ । व्यवहारयोग्ये आकाशे । जग-  
ति । कृण्वन्ति । कृवि हिंसाकरणयोः । कुर्वन्ति । भक्षम् । भक्ष अदने-कर्म-  
णि घञ् । भक्ष्यम्, अन्नम्, पोषणम् । याः । आपः । अन्तरिक्षे । १।३०।३  
मध्ये दृश्यमाने आकर्षणसामर्थ्ये । बहु-धा । विभाषा बहुधाऽविप्रकृष्टकाले ।  
पा० ५ । ४ । २० । इति बहु + धा । बहुप्रकारेण, अविप्रकृष्टकाले । भवन्ति ।  
वर्तन्ते । अन्यद् व्याख्यातम् म० १ ॥



शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वापं  
स्पृशन्तु त्वचं मे । घृतश्चतुः शुचंयो याः पावकास्ता  
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ४ ॥

शिवेन । मा । चक्षुषा । पश्यत । आपः । शिवया । तन्वा ।  
उप । स्पृशतु । त्वचम् । मे । घृत-श्चतुः । शुचंयः । याः ।  
पावकाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥४॥

भाषार्थ—(आपः) हे तन्मात्राओ ! ( शिवेन ) मुनप्रद ( चक्षुषा ) नेत्र  
से ( मा ) मुझ को ( पश्यत ) तुम देखो, ( शिवया ) अपने मुनप्रद ( तन्वा )  
रूपसे ( मे ) मेरे ( त्वचम् ) शरीर को ( उपस्पृशत ) तुम स्पर्श करो । ( याः )  
जो ( आपः ) तन्मात्रायें ( घृतश्चतुः ) अमृत बरसाने वाली, ( शुचंयः ) निर्मल  
स्वभाव और ( पावकाः ) शुद्धि जताने वाली हैं, ( ताः ) वह [तन्मात्रायें] ( नः )  
हमारे लिये ( शम् ) शुभ करने हारी और ( स्योनाः ) सुख देने वाली ( भवन्तु )  
होवें ॥ ४ ॥

४—शिवेन । सर्वनिघृन्वरिष्व० । उ० १ । १५३ । इति शौङ् शयने  
यद्वा, शो तनूकरणे-घन् । शेरते विद्यन्ते शुभगुणा यत्र, वा श्यति अशुभानीति ।  
सुखकरेण । मा । माम् । चक्षुषा । चक्षुः शिञ्च । उ० २ । ११६ । इति  
चक्ष कथने दर्शने च-उसि । स च शित् । शित्वात् ख्यापदेशाभावः । लोचनेन,  
नयनेन, । पश्यत । अवलोकयत । आपः । म० १ । हे सूक्ष्मतन्मात्राः ।  
शिवया । कल्याण्या, इष्टप्राप्तिहेतुभूतया । तन्वा । १ । १ । १ । रूपेण ।  
उप+स्पृशत । संस्पृशत । त्वचम् । १ । २४ । २ । शरीरम् । घृत-श्चतुः ।  
घृ दीप्तौ सेके च-क्त । घृतं सारः, अमृतम् । श्चुतिर् क्षण्ये किर । अमृतस्य विषयः  
अन्यद् व्याख्यातम् म० १ ॥

भावार्थ—(आपः) तन्मात्रायें मुझे नेत्र से देखें, अर्थात् पूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त हो और उस से हमारे शरीर और आत्मा स्वस्थ रहें । अथवा, ( आपः ) शब्द से तन्मात्राओं के ज्ञाता और वशयिता परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष का ग्रहण है । जो मनुष्य सृष्टि के विज्ञान से शरीर का स्वास्थ्य और आत्मा की उन्नति करके उपकारी होते हैं उन के लिये परमेश्वर की कृपा से सदा अमृत अर्थात् स्थिर सुख वरसता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—५ ॥ वीरुद् ( लता ) देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या की प्राप्ति का उपदेश ॥

इयं वीरुन्मधु'जाता मधु'ना त्वा खनामसि ।

मधोरधि प्रजातासि सा नो मधु'मतस्कृधि ॥ १ ॥

इयम् । वीरुत् । मधु'-जाता । मधु'ना । त्वा । खनामसि ।

मधो'ः । अधि' । प्र-जाता । असि । सा । नः । मधु'-मतः । कृधि ॥१॥

भावार्थ—( इयम् ) यह तू ( वीरुत् ) बढ़ती हुई [ विद्या ] ( मधुजाता ) ज्ञान से उत्पन्न हुई है, ( मधुना ) ज्ञान के साथ ( त्वा ) तुझ को ( खनामसि ) हम खोदते हैं । ( मधोः अधि ) विद्या से ( प्रजाता असि ) तू जन्मी है ( सा )

१—इयम् । पुरोवर्तिनी त्वम् । वीरुत् । १ । ३२ । १ । विरोहणशीला विस्तृता लतारूपा विद्या । मधु-जाता । १ । ४ । १ । मन ज्ञाने-उ, धश्चान्ता-देशः । जनी-क । मधुनो ज्ञानात् क्षौद्रात् वा यथा उत्पन्ना । मधुना । १ । ४ । १ । ज्ञानेन, क्षौद्ररसेन यथा वा । त्वा । त्वाम् वीरुधम् । खना-मसि । खनु अवदारणे-लट्, मस इत्वम् । खनामः, अवदारयामः अन्वेषणेन प्राप्नुमः । मधोः । पुंलिंगे वसन्तर्तुसंकाशात् । खियाम् । विद्यायाः संकाशात् । अधि । पञ्चम्यर्थानुवादी । प्र-जाता । प्रादुर्भूता । असि । वर्त्तसे । सा । सा त्वम् । नः । अस्मान् । मधु-मतः । तदस्यास्त्यस्मिन्निति मनुष्य ।

सो तू ( नः ) हमको ( मधुमतः ) उत्तम विद्या वाले ( कृधि ) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मधु शब्द [ मनः जानना-उ, न=ध ] का अर्थ ज्ञान है । धात्वर्थ के अनुसार यह आशय है कि शिक्षा के ग्रहण, अभ्यास, अन्वेषण और परीक्षण से मनुष्य को उत्तम सुखदायक विद्या मिलती है ॥ १ ॥

### दूसरा अर्थ ॥

( इयम् वीरुत् ) यह तू फैलती हुई बेल ( मधुजाना ) मधु ( शब्द ) से उत्पन्न हुई है ( मधुना ) मधु के साथ ( त्वा ) तुझ को ( खतामसि ) हम खोदते हैं । ( मधोः अधि ) वसन्त ऋतु से ( प्रजाता असि ) तू जन्मी है, ( सा ) सो तू ( नः ) हमको ( मधुमतः ) मधु रस वाले ( कृधि ) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मधु शब्द उसी धातु [ मन जानना ] से सिद्ध होकर [ शब्द ] के रस का वाचक है । इस अर्थ में विद्या को मधुलता अर्थात् शब्द की बेल वा प्रेमलता माना है । ( मधु ) शब्द वसन्त ऋतु में अनेक पुष्पों के रस से मधुमल्लिकाओं द्वारा मिलता है, इसी प्रकार ( मधुना ) प्रेम-रस के साथ ( खोदने ) अर्थात् अन्वेषण और परीक्षण से विद्वान् लोग अनेक विद्वानों से विद्यारूप मधु को पाकर ( मधु ) आनन्द रस का भोग करते हैं ॥ १ ॥

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामुले मधूलंकम् ।

ममेदहं क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

जिह्वायाः । अग्रे । मधु । मे । जिह्वा-मुले । मधूलंकम् । मम । इत् । अहं । क्रतौ । असः । मम । चित्तम् । उप-आयसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—( मे ) मेरी ( जिह्वायाः ) रस जीतने वाली, जिह्वा के ( अग्रे ) सिरे पर ( मधु ) ज्ञान [ वा मधु का रस ] होवे और ( जिह्वामुले ) जिह्वा की

पां० ५ । २ । ६४ । इति प्रशंसायां मतुप् । प्रशस्तज्ञानयुक्तान्, क्षौद्ररसोपेतान् वा यथा । कृधि । कुरु ॥

२—जिह्वायाः । १ । १० । ३ । जयति रसमनया । रसनायाः । अग्रे ।

मूल में ( मधूलकम् ) ज्ञान का लाभ [वा मधु का स्वादु] होवे । ( मम ) मेरे ( क्तौ ) कर्म वा बुद्धि में ( इत् ) ही ( अह ) अवश्य ( असः ) तू रह, ( मम चित्तम् ) मेरे चित्त में ( उपायसि ) तू पहुँच करती है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्या को रटन, मनन, और परीक्षण से प्रेम पूर्वक प्राप्त करते हैं, तब विद्या उन के हृदय में घर करके सुख का बरदान देती है ॥२॥

मधु'मन्मे निक्रमंशु' मधु'मन्मे परायणम् ।

वाचा वंदामि मधु'मद् भूयासु' मधु'संदृशः ॥ ३ ॥

मधु'-मत् । मे । नि-क्रमणम् । मधु'-मत् । मे । परा-अयनम् ।  
वाचा । वंदामि । मधु'-मत् । भूयासु' । मधु'-संदृशः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरा ( निक्रमणम् ) पास आना ( मधुमत् ) बहुत ज्ञान वाला वा रस में भरा हुआ, और (मे) मेरा ( परायणम् ) बाहिर जाना ( मधुमत् )

शृज्जेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० २ । २८ । इति अग्नि गतौ-रन् । उपरिभागे । मधु ।  
म० १ । ज्ञानं क्षौद्ररसो वा । जिह्वा-मूले । मृशप्यविभ्यः क्लृः । उ० ४ । १०८ ।  
इति मूड् यन्धे-क्लृ । सवते वधाति वृक्षादिकं मूलम्, जिह्वाया रसनाया मूलभागे ।  
मधूलकम् । मधु + उर गतौ-क, रस्य लत्वम्, स्वार्थे कन् । यद्वा मधु + लक  
स्वादे, प्राप्ता च-अच्, दीर्घत्वम् । मधुनो ज्ञानस्य प्राप्तिः । मधुनः क्षौद्रस्य स्वादः ।  
मम । मदीये । इत् । एव । अह । अवश्यम् । क्तौ । कृजः कतुः । उ०  
१ । ७६ । इति कृज्-कतु । कतुः, कर्म-निघ० २ । १ । प्रज्ञा-निघ० ३ । ६ ।  
कर्मणि बुद्धौ वा । असः । १ । १६ । ४ ॥ त्वं भूयाः । चित्तम् । चिती ज्ञाने-  
क । अन्तः करणम् । उप-आयसि । उप + आङ् + अयङ् गतौ-लट् । उपा-  
गच्छसि, आदरेण सर्वतः प्राप्नोषि ॥

३—मधु-मत् । म० १ । अतिविज्ञानयुक्तम् । मधुरसोपेतम् । नि-क्रम-  
णम् । नि + क्रमु गतौ-ल्युट् । निकटगमनम्, आगमनम् । परा-यअनम् ।

बहुत ज्ञान वाला वा रस में भरा हुआ होवे । ( वाचा ) वाणी से मैं ( मधुमत् ) बहुत ज्ञान वाला वा रसयुक्त ( वदामि ) बोलूँ और मैं ( मधुसन्द्शः ) ज्ञान रूप वाला वा मधुर रूप वाला ( भूयासम् ) रहूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य घर, सभा, राजद्वार, देश, परदेश आदि में जाने, जाने, निरीक्षण, परीक्षण, अभ्यास आदि समस्त चेष्टाओं और वाणी से योजने अर्थात् शुभ गुणों के ग्रहण और उपदेश करने में ( मधुमान् ) ज्ञान चान् वा रस से भरे अर्थात् प्रेम में मग्न होते हैं, वही महात्मा ( मधुसन्द्शः ) रसीले रूप वाले अर्थात् संसार भर में शुभ कर्मी होकर उपकार करते हैं ॥ ३ ॥

मधोरस्मि मधु'तरो मदुघान्मधु'मत्तरः ।

मामित् किलु त्वं वनाः शाखां मधु'मतीमिव ॥ ४ ॥

मधोः । अस्मि । मधु'-तरः । मदुघात् । मधु'मत्-तरः ।

माम् । इत् । किल । त्वम् । वनाः । शाखां । मधु'मतीम्-इव ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( मधोः ) मधुर रस से मैं ( मधुनरः ) अधिक मधुर ( अस्मि ) होऊँ, ( मदुघात् ) लड़ु [ वा मुलहटी ओषधि ] से भी ( मधुमत्तरः ) अधिक मधुर रस वाला होऊँ । ( त्वम् ) तू ( माम् इत् ) मुझ से ही ( किल ) निश्चय

परा+अय गतौ-ल्युट् । दूरगमनम् प्रस्थानम् । वाचा । १ । १ । १ । वाण्या । वदामि । वद वाचि-लिङ्घे लट् । कथ्यासम् उच्ययासम् । भूयासम् । भू सत्तायाम्-आशिपि लिङ् । अहं स्याम् । मधु-सन्द्शः । इगुपधप्राप्ती-किरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति मधु+सम्+दशिर् प्रेक्षे = चक्षुषज्ञाने-क । ज्ञानरसरूपः, मधुरदर्शनः ॥

४—मधोः । म० १ । मधुररसात्, क्षौद्ररसात् । अस्मि । अहं भवानि । मधु-तरः । द्विवचनविभज्योपपदे तरवीयसुनौ । पा० ५ । ३ । ५७ । इति मधु+तरप् । अधिकमाधुर्योपेतः । मदुघात् । मोदकात् । मुद हर्षे-एबुल् । छान्दसं रूपम् मिष्टखाद्यविशेषात् । यद्वा [ मधुकात् ] मधु+कै-क । मधु मधुरं कायति

करके ( वनाः ) प्रेमकर, (इव) जैसे ( मधुमतीम् ) मधुर रसवाली (शाखाम्) शाखा से [ अनुराग करते हैं ] ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्या का रस सांसारिक स्वादिष्ट मिष्टान्न आदि रोचक पदार्थों से बहुत ही रसीला अर्थात् अधिक लाभदायक और उपकारी होता है। जैसे जैसे ब्रह्मचारी यत्न पूर्वक विद्या की लालसा करता है वैसे ही वैसे विद्या देवी भी उस से अनुराग करती है ॥ ४ ॥

मनु महाराज ने कहा है—अ० ४ श्लोक २० ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।

तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥१॥

जैसे जैसे ही पुरुष शास्त्र को पढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे वह अधिक विद्वान् होता जाता है, और विज्ञान में उसकी रुचि होती है ॥

परि त्वा परितुत्तुने क्षुणागामद्विषे ।

यथा मां कामिन्यसौ यथा मन्त्रापगाअसुः ॥ ५ ॥

परि । त्वा । परि-तुत्तुना । क्षुणा । अगास् । अवि-द्विषे । यथा ।  
माम् । कामिनी । असः । यथा । मत् । न । अप-गाः । असुः ॥५॥

शब्दयति विज्ञापयतीति मधुकम् । यण्टिमधुकायाः, ओपधिविशेषात् । सायण-  
भाष्ये तु ( मधुघात् ) = मधुदुघात्, मधु + दुह प्रपूरणे-कप्, घत्वं च, मधु-  
शब्दे ध्रुलोपश्रृङ्गान्दसः, मधुस्त्राविणः पदार्थविशेषात्-इति वर्तते । मधुमत्-तरः ।  
मधु + मतुप् + तरप् पूर्ववत् । पा० ५ । ३ । ५७ । अधिकतरमधुमान्, उपकारि-  
तरः । माम् । विद्यार्थिनं ब्रह्मचारिणम् । किल । प्रसिद्धौ, निश्चयेन । त्वस् ।  
विद्ये । वनाः । वन संभक्तौ—लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । इति  
आडागमः । त्वं संभक्तेः, संवस्र, कामयेथाः । शाखास् । शाख व्याप्तौ-  
अच्, टाप् । वृक्षाङ्गविशेषम् । मधुमतीम् । म० १ । मधु + मतुप्—ङीप् ।  
मधुररसयुक्ताम् ॥

भाष्यार्थ—( परितत्नुना ) बहुत फैली हुई ( इक्षुणा ) लालसा के साथ [ अथवा , ऊख जैसी मधुरता के साथ ] ( अविद्विषे ) बैर छोड़ने के लिये ( त्वा ) तुझ को ( परि ) सब ओर से ( अगाम् ) मैंने पाया है । ( यथा ) जिस से तू ( माम् कामिनी ) मेरी कामना करने वाली ( असः ) होवे, और ( यथा ) जिस से तू ( मत् ) मुझ से ( अपगाः ) विछुड़ने वाली ( न ) न ( असः ) होवे ॥ ५ ॥

भाष्यार्थ—जय ब्रह्मचारी पूर्ण अभिलाषा से विद्या के लिये प्रयत्न करता है तो कठिन से कठिन भी विद्या उस को अवश्य मिलती और अभीष्ट आनन्द देती है ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा २ । ३० । १ और ६ । ८ । १—३ में भी है ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१—४ ॥ हिरण्यं देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सुवर्णादिधनलाभोपदेशः—सुवर्ण आदि धन प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

यदाबध्नन् दाक्षायुणा हिरण्यं शतानीकाय सुमन-  
स्यमानाः । तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे वलाय  
दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ १ ॥

५—परि । सर्वतो भावेन । त्वा । त्वाम् मधुलतां विद्याम् । परि-  
तत्नुना । दाभाभ्यां जुः । उ० ३ । ३२ । इति याहुलंकात् । तनु विस्तारे-नु  
प्रत्ययः । सर्वत्रव्याप्तेन । इक्षुणा । इषेः वसुः । उ० ३ । १५७ । इति इष इच्छा-  
याम्-कसु । अभिलाषेण , यद्वा । शुडतृणेन प्रेमरूपेण । अगाम् । इण् गतौ-  
लुङ् । प्राप्तवानस्मि । अवि-द्विषे । न + वि + द्विष वैरे-भावे विवप् । वैर-  
त्यागार्थम् । यथा । येन प्रकारेण । माम् । ब्रह्मचारिणम् । कामिनी ।  
अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति काम-इनि । ङीप् । अकेनोर्भविष्यदाध-  
मर्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति द्वितीया । माम् कामयमाना । असः । १ । १६  
४ । त्वम् भवेः , भूयाः । मत् । मत्तः । न । निषेधे । अप-गाः । आतो  
मनिन्क्वनिव्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति अप + गाङ् गतौ-विष् ।  
अपयानशीला , प्रस्थानशीला , वियोगिनी ॥

यत् । आ-अबध्न् । दाक्षायणाः ( = दक्ष-अयनाः ) । हिरण्यम् ।  
शुत-अनीकाय । सु-सुनस्यमानाः । तत् । ते । बध्नामि । आयुषे ।  
वर्चसे । बलाय । दीर्घायु-त्वाय । शुत-शरदाय ॥ १ ॥

भाषार्थ—( यत् ) जिस ( हिरण्यम् ) कामनायोग्य विज्ञान वा सुवर्णादि  
को ( दाक्षायणाः ) बल की गति रखने वाले, परम उत्साही ( सुमनस्यमानाः )  
शुभचिन्तकों ने ( शतानीकाय ) सौ सेनाओं के लिये ( अबध्न् ) बांधा है ।  
( तत् ) उस को ( आयुषे ) लाभ के लिये, ( वर्चसे ) यश के लिये, ( बलाय )  
बल के लिये और ( शतशरदाय ) सौ शरद् ऋतुओं वाले ( दीर्घायुत्वाय )  
चिरकाल जीवन के लिये ( ते ) तेरे ( बध्नामि ) मैं बांधता हूँ ॥ १ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार कामना योग्य उत्तम विज्ञान और धन आदि से

१—यत् । हिरण्यम् । आ । समन्तात् । अबध्न् । बन्ध बन्धने-लङ् ।  
अधारयन्, अस्थापयन् । दाक्षायणाः । दक्ष-अयनाः । दक्ष वृद्धौ-अच् । दक्षते  
प्रवृद्धये समर्थो भवतीति । दक्षः, बलम् । निघ० २ । ६ । अय गतौ-ल्युट् । अयनं  
गतिः । पूर्वपददीर्घत्वं छान्दसम् । दक्षस्य बलस्य अयनं गतिर्येषां ते दक्षायणाः ।  
परमोत्साहिनः शरवीरा विद्वांसो वा । हिरण्यम् । १ । ६ । २ । कमनीयं  
विज्ञानं । सुवर्णादिकं धनम् । शुत-अनीकाय । दिक्संख्ये संज्ञायाम् । पा० २ । १  
५० । इति तत्पुरुषः । शतसेनाप्राप्तये । सु-सुनस्यमानाः । कर्तुः क्यङ् सलो-  
पश्च । पा० ३ । १ । ११ । इति मनस्-पयङ्, विकल्पत्वाद्वा सकारभावः, ततो  
लट् । शानच् । शोभनं मनः कुर्वन्ते सुमनस्यन्ते सुमनायन्ते वा ते सुमनस्यमानाः,  
शोभनं ध्यायन्तः शुभचिन्तकाः सज्जनाः । बध्नामि । बन्ध बन्धने-क्रयादि ।  
धारयामि । आयुषे । १ । ३० । ३ । ईयते प्राप्यते यत्तद् आयुः । आयाय,  
लाभाय । वर्चसे । १ । ६ । ४ । तेजसे, यशसे । बलाय । १ । १ । १ । पराक्र-  
माय । दीर्घायु-त्वाय । दृ विदारणे-घङ् । छन्दसीणः । उ० १ । २ । इति  
इण् गतौ-उण्-आयुः । भावे त्वप्रत्ययः । लम्बमानजीवनाय, चिरकालजीवनाय ।  
शुत-शरदाय । सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् । पा० ४ । ३ । १६ । इति श-  
रद्-अण् । शरदतोः संबन्धी कालः संवत्सरः । शतंसंवत्सरयुक्ताय ॥



दूरदर्शी, शुभचिन्तक, शूर वीर विद्वान् लोग बहुत सेना लेकर रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य विज्ञान और धन की प्राप्ति से संसार में कीर्ति और सामर्थ्य बढ़ावें और अपना जीवन सुफल करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है । अ० ३४ म० ५२ ॥

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः  
प्रथमजं ह्ये ३ तत् । यो विभर्ति दाक्षायणं हिर-  
ण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ २ ॥

न । एनस् । रक्षांसि । न । पिशाचाः । सहन्ते । देवानाम् ।  
ओजः । प्रथम-जम् । हि । एतत् । यः । विभर्ति । दाक्षाय-  
णम् ( = दक्ष-अयनम् ) । हिरण्यम् । सः । जीवेषु । कृणुते ।  
दीर्घम् । आयुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—( न ) न तो ( रक्षांसि ) हिंसा करनेवाले राक्षस और ( न ) न  
( पिशाचाः ) मांसाहारी पिशाच ( एनम् ) इस पुरुष को ( सहन्ते ) दवा सकते  
हैं, ( हि ) क्योंकि ( एतत् ) यह [ विज्ञान वा सुवर्ण ] ( देवानाम् ) विद्वानों का  
( प्रथमजम् ) प्रथमउत्पन्न ( ओजः ) सामर्थ्य है । ( यः ) जो पुरुष ( दाक्षायणम् )

२—न । निबेधे । एनस् । हिरण्यधारिणं पुरुषम् । रक्षांसि । १।२१।  
३ । राक्षसाः, नष्टबुद्धयः स्वार्थिनः । पिशाचाः । १ । १६ । ३ । मांसभक्षिणः  
पिशिताशिनो महादुःखदायिनः । सहन्ते । अभिभवन्ति, बाधन्ते । देवानाम् ।  
विदुषाम् । ओजः । १ । १२ । १ । पराक्रमः । प्रथम-जम् । प्रथेरमच् । उ०  
५ । ६८ । इति प्रथ रूपातौ-अमच्+जनी-ड । प्रथमतो मातापितृगुरुकारिता-  
भ्यासत उत्पन्नम् । हि । खलु, यस्मात् कारणात् । एतत् । हिरण्यम् । यः ।  
पुरुषः । विभर्ति । भृज् भरणधारणपोषणेषु-जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः ।  
दधाति । दाक्षायणम् । म० १ । बलस्य गतियुक्तम्, परमोत्साहवर्धकम् ।

बल की गति बढ़ाने वाले ( हिरण्यम् ) कमनीय तेजः स्वरूप विज्ञान वा सुवर्ण को ( विभर्त्ति ) धारण करता है. ( सः ) वह ( जीवेषु ) सब जीवों में ( आयुः ) अपनी आयु को ( दीर्घम् ) दीर्घ ( कृणुते ) करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष ( प्रथमजम् ) प्रथम अवस्था में शुणी माता, पिता और आचार्य से ब्रह्मचर्य सेवन करके शिक्षा पाते हैं, वह उत्साही जन सब विघ्नों को हटा कर दुष्ट हिंसकों के फंदे में नहीं फंसते हैं, और वही सत्कर्मी पुरुष विज्ञान और सुवर्ण आदि धन को प्राप्त करके संसार में यश पाते हैं, इसी का नाम दीर्घ आयु करना है ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है, अ० ३४ म० ५१ ॥

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत  
वीर्याणि । इन्द्रं इवेन्द्रियाण्याधि धारयामो अस्मिन्  
तद् दक्षमाणो विभरुद्विरण्यम् ॥ ३ ॥

अपाम् । तेजः । ज्योतिः । ओजः । बलम् । च । वनस्पतीनाम् ।  
उत । वीर्याणि । इन्द्रं-इव । इन्द्रियाणि । अधि । धारयासुः ।  
अस्मिन् । तत् । दक्षमाणः । विभरुत् । हिरण्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( अपाम् ) प्राणों वा प्रजाओं के ( तेजः ) तेज, ( ज्योतिः ) कान्ति, ( ओजः ) पराक्रम ( च ) और ( बलम् ) बल को ( उत ) और भी  
हिरण्यम् । म० १ । कमनीयं विज्ञानं सुवर्णादिकं वा । जीवेषु । इगुपधक्षा-  
प्रोक्तिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति जीव प्राणने-क । प्राणिषु । कृणुते ।  
कृञ् हिंसाकरणायोः, स्वादिः । करोति । दीर्घम् । म० १ । दृ विदारणे-घङ् ।  
लभ्यमानम् । आयुः । म० १ । इण्-उसि । जीवनम् ॥

३—अपाम् । आप्नोतेर्हस्वश्च । उ० २ । ५८ । इति आप्तु व्याप्तौ-ष्वप् ।  
आप्नुवन्ति शरीरमिति आपः । प्राणानाम् । आप्तानां प्रजानां वा । यथा श्रीमद्-  
दयानन्दभाष्ये । आपः = प्राणा जलानि वा । यजुः ४ । ७ । पुनः । आप्ताः प्रजाः ।

( वनस्पतीनाम् ) सेवनीय गुणों के रक्षक विद्वानों की ( वीर्याणि ) शक्तियों को ( अस्मिन् अधि ) इस [ पुरुष ] में ( धारयामः ) हम धारण करते हैं , ( इव ) जैसे ( इन्द्रे ) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष में ( इन्द्रियाणि ) इन्द्र के चिन्ह , [ बड़े ऐश्वर्य ] होते हैं । [ इस लिये ] ( दक्षमाणाः ) वृद्धि करता हुआ यह पुरुष ( तत् ) उल्ल ( हिरण्यम् ) कमनीय विज्ञान वा सुवर्ण आदि को ( विभरत् ) धारणश्चरे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वानों के सत्संग से महा प्रतापी , विक्रमी , तेजस्वी , गुणो पुरुष वृद्धि करके विज्ञान और धन संचय करे और सामर्थ्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

समानां मासामुतुभिष्ट्वा वयं सैवत्सुरस्य पयसा  
पिपर्मि । इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्ताम-  
हृणीयमानाः ॥ ४ ॥

समानां । मासां । ऋतुभिः । त्वा । वयम् । सुस्-वत्स-  
रस्य । पयसा । पिपर्मि । इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः ।  
ते । अनु । मन्यन्ताम् । अहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

य० ६ । २७ । तेजः । तिज निशाने-असुन् । दीप्तिः , कान्तिः । रेतः , सारः ।  
ज्योतिः । १ । ६ । १ । प्रकाशः , कान्तिः । ओजः । म० २ । पराक्रमः ।  
बलम् । म० १ । सामर्थ्यम् । शौर्यम् । वनस्पतीनाम् । १ । १२ । ३ । वन +  
पतिः , सुट् च । वृक्षाणाम् । अथवा । सेवनीयगुणपालकानां सज्जनानां पाल-  
कानाम् । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये यजु० २७ । २१ । वनस्पते = वनस्य संभज-  
नीयस्य शास्त्रस्य पालक । वीर्याणि । १ । ७ । ५ । सामर्थ्यानि । रेतसि ।  
इन्द्रे । १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवति पुरुषे । इन्द्रियाणि । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग-  
मिन्द्रदृष्टिमिन्द्रसुष्टिमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । पा० ५ । २ । ६३ । इन्द्रस्य  
लिङ्गानि चिन्हानि । परमैश्वर्याणि , धनादीनि । अधि । उपरि । धारयामः ।  
स्थापयामः । अस्मिन् । पुरुषे । तत् । तस्मात् कारणात् । दक्षमाणाः ।  
वक्ष्यन्तौ-शानच् । वर्धमानः पुरुषः । विभरत् । इमृश् धारणपोषणयोः-लेट् ।  
धारयेत् , विभर्तुं । हिरण्यम् । म० १ । कमनीयं धनम् ॥

भाषार्थ—( वयम् ) हम लोग ( त्वा ) तुझ को [ आत्मा को ] ( समानाम् ) अनुकूल ( माम्नाम् ) महीनों की ( ऋतुभिः ) ऋतुओं से और ( संवत्सरस्य ) वर्ष के ( गयत्वा ) दुग्ध वा रस से ( पिपर्मि = पिपर्मः ) पूर्ण करते हैं । ( इन्द्राग्नी ) वायु और अग्नि [ वायु और अग्नि के समान गुण वाले ] ( ते ) वह ( विश्वे देवाः ) सब दिव्य गुणयुक्त पुरुष ( अहणीयमानाः ) संकोच न करते हुये ( अनु मन्यन्ताम् ) [ हम पर ] अनुकूल रहें ॥ ४ ॥

भाषार्थ—जो मनुष्य महीनों, ऋतुओं और वर्षों का अनुकूल विभाग करते हैं, वह वर्ष भर की उपज, अन्न, दूध, फल पुष्प आदि से पुष्ट रहते हैं,

४—उसानाम् । पम वैक्लव्ये-पचायच् । अत्रिपमानाम् । पूर्णानाम् । साधूनाम्, अनुकूलानाम् । मासाम् । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति माङ् मने-अनुन् । मासानाम् । ऋतु-भिः । अर्त्तेश्च तुः । उ० १ । ७२ । इति ऋ गतौ—तु, स च कित् । वसन्तादिकालविशेषैः । त्वा । त्वाम् पुरुषम् । सम्-वत्सरस्य । संपूर्वाच्चित् । उ० ३ । ७२ । इति सम्+वस निवासे—सरन्, सस्य नकारः । संवत्सन्ति ऋतवा यत्र । वर्षस्य, द्वादशमासानामकस्य कालस्य । पयत्वा । पय गतौ वा पीड् पाने—असुन् । दुग्धेन सारेण वा, धान्यफलादिना, इत्यर्थः । पिपर्मि । पृ पालनपूरणयोः, जुहोत्यादिः । एकवचनं हुक्-वचने । वयं पिपर्मः पालयामः, पूरयामः । इन्द्राग्नी । वायवग्नी । यथा श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, य० २१ । २० । इन्द्राग्नी = इन्द्रश्चाग्निश्च तौ वायवाग्नी । तद्वद् गुणवन्तः । विश्वे । सर्वे । देवाः । दिव्यगुणाः पुरुषाः । अनु-मन्यन्ताम् । अनु+मन बोधे-लोट् । अनुजानन्तु, स्वीकुर्वन्तु, अनुकूलं कुर्वन्तु । अहणीय-मानाः । कण्ड्वादिभ्यो यक् । पा० ३ । १ । २७ । इति ह्यणीङ् रोपणे लज्जायां वैमनस्ये च-यक् । छित्त्वाद् आत्मनेपदम् । ततः शानच् । हणीयते = कुप्यति, निघ्न० २ । १२ । अक्रुध्यन्तः, असङ्गवन्तः ॥

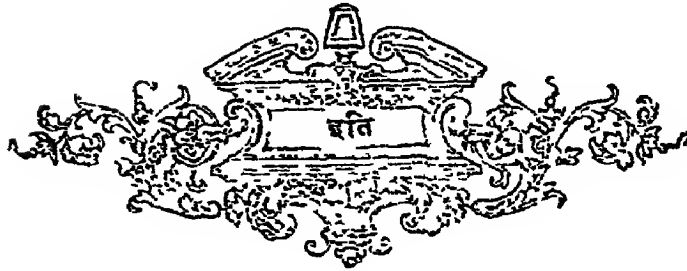
और वायु के समान वेग वाले, और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् महात्मा  
उस पुरुषार्थी मनुष्य के सदा शुभचिन्तक होते हैं ॥ ४ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति प्रथमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीसयाजीरावगायकवाडा-  
धिष्ठितबडोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेद-  
भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपरिडत्तक्षेमकरणादासत्रिवेदिना  
कृते अथर्ववेदभाष्ये प्रथमं काण्डं  
समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे श्रावणमासे रक्षावन्धनतिथौ १९६६ तमे  
विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-  
श्रीराजराजेश्वर जार्जपञ्चम-  
महोदयस्य सुसामाज्ये  
सुसमाप्तिमगात् ॥





# हमारे अन्य वैदिक ग्रन्थ ।



४-हवनमंत्राः—मर्यात् चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण और हवन मन्त्र, विधि आदि, सरल भाषानुवाद, टिप्पणी, शब्द संग्रह आदि सहित बड़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ५६ मूल्य ॥

— जंक्षित समालोचनायें —

सद्धर्म प्रचारक, गुरुकुल काँगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १९६८...आजकल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते । उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये ।

अभ्युदय, प्रयाग ता० २८ अप्रैल १९१२...इस में ईश्वर स्तुति, स्वास्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मंत्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं ।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है ।

वेद प्रकाश, मेरठ, मई १९१२ ।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषा में अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है ।

महाशय, लुशीराम जी गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८ ।...आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके यड़ा उपकार किया है । आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेजी अनुवाद सहित धी. पी. द्वारा भेज देंगे

५—रुद्राध्याय—सुप्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः ) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्गरेजी में शिक्षा, शब्दसाधन आदि सहित । बड़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ॥

६—तथा—मूलमात्र, बड़िया रायल अठपेजी पृ० १४ मूल्य ॥

## क्षेमकरणदास त्रिवेदी

५२ लूकरगंज, प्रयाग



